लेखक	:	महर्षि शिव व्रत लाल वर्मन
जन्म	:	महाशिव रात्री, फरवरी 1860 ई.
जन्म स्थान	:	ग्रामपुरा कानून गोआइन सन्त रविदास नगर (उ. प्र.)
शैक्षिक योग्यता	:	एम. ए. (इलाहाबाद विश्व विद्यालय) एम. ए. (शिकागो विश्व विद्यालय) एल. एल. बी. (शिकागो विश्व विद्यालय)
कार्यकलाप	:	शिक्षक : प्रधानाचार्य (हैडमास्टर) प्रचारक : आर्य समाज सम्पादक : आर्य गजेट विभिन्न उर्दू एवं हिन्दी पत्रिकाओं के सम्पादक अनुमानत : 3000 से 5000 उर्दू एवं हिन्दी (गद्य-पद्य) पुस्तकों के लेखक/ अन्ततः राधास्वामी मत की एक शाखा विशेष के सम्पादक : सन्त सतगुरू भारत वर्ष के विभिन्न प्रान्तों में लाखों शिष्य
देहावसान	:	महाशिव रात्रि, फरवरी 1939 ई.

राधा-स्वामी योग

छटवाँ भाग

महर्षि शिव व्रत लाल वर्मन

राधास्वामी योग

छटवाँ भाग

(दाता दयाल महर्षि शिव्रतलाल जी महाराज
की
उर्दू पुस्तक का अनुवाद)

प्रथम संस्करण :
सं० शाका 1882

द्वितीय संस्करण :
सं० शाका 2015

सर्वाधिकार
सुरक्षित

मूल्य :

॥ राधा स्वामी ॥

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णु गुरुर्देव महेश्वरः
गुरु साक्षात् परब्रह्म तस्मै श्रीः गुरुवे नमः

बसन्त

सुन फकीर अब भेद अनूप। समझ बसन्त का दूजारुप॥
तिल से तेल फूल संग बासा। सो बसन्त है अगम अभासा॥
फूल के संग मिले जब तेल। बसा बास तब बने फुलेल॥
यह फुलेल सब के मन भावे। तिल का तेल न फूल कहावे॥
राजा रानी के सिर चढ़े। सिर की पीड़ा तुरतहि हरे॥
यह बसन्त है अगम अपारा। समझे कोई गुरु मुख प्यारा॥
जीवन मुक्त दशा में बरते। देह गेह गहि उत्तम परखे॥
अछत देह पावे निर्वान। यह धुरपद यह सत पद ज्ञान॥
जनक राज की फिरे दोहाई। ज्ञान मार्ग ऋषि मुनिहि सिखाई॥
जीवन मुक्त विदेह अवस्था। इस बसन्त को घारे कक्षा॥

ती गुनन के त्याग से, चोथे पद में आय।
ताको सब कोई कहत हैं, सायुज गति सो पाय॥
बस बस सन्त के निकट में, धारि ले रीति बसन्त।
चौथे पद में बास कर, छोड़ तीन का तन्त॥
ऐ फकीर आ पास में, गह ले बास सुबास।
बस-बस मेरे रूप में, हो सन्तों का दास॥

❁ विषय सूची ❁

राधास्वामी योग छटवाँ भाग

1.	सुमिरन की युक्ति	5
2.	उद्देश्य	6
3.	शब्द अभ्यास	9
4.	भिन्न भिन्न प्रकार के शब्द	15
5.	शब्द का प्रभाव	18
6.	शब्द अभ्यास से अंतरीय एकाग्रता	21
7.	तीन तरह के साधन	22
8.	आत्मिक उन्नति	26
9.	तीन मंडल	28
10.	मन से काम लेना	31
11.	अभ्यास में विघ्न	36
12.	रचना	38
13.	रचना (लगातार)	41
14.	रचना (लगातार)	45
15.	सुरत शब्द का मार्ग	47
16.	रचना के स्थान	49
17.	स्थानों का ज्ञान	54

18.	अभ्यास से लाभ	57
19.	सुख कैसे मिलता है	59
20.	धुर पद	63
21.	शिक्षा का स्पष्टी करण	64
22.	कर्म	67
23.	आवा गवन	69
24.	चार युग	71
25.	व्यक्तित्व का कायम रखना	75
26.	रचना का प्रयोजन	79
27.	रचना में विभिन्न रूप	84
28.	बाणी में स्थानों की व्याख्या	87
29.	समाधि	89
30.	हुजूर परम पुरुष पूर्ण धनी के चरणों में प्रार्थना	92

सुमिरन की युक्ति

संत मत के अभ्यास में सुमिरन का स्थान सबसे प्रथम है। सुमिरन का अर्थ है बार बार स्मरण करना, दुहराना। अभ्यास के साथ-साथ सत्संग पर सब से अधिक जोर दिया गया है यही कारण है कि सतगुरु, गुरु या साधन सम्पन्न महा पुरुष के सत्संग में काफी सत्संगी एकत्रित हो जाते हैं। केवल सत्संग द्वारा भी इष्ट पद की प्राप्ति हो सकती है ऐसा सत्पुरुषों का कथन है मगर उसके लिए विशेष संस्कार और अधिकार की जरूरत है और ऐसे अधिकारी गिने-चुने हुआ करते हैं। साधारण कोटि के लोगों के लिये यह कठिन है। उनके लिये कहा गया है।

सत्संग करे वचन पुनि सुने। सुन सुन कर नित मन में गुने॥

इस गुनने का भाव यही है कि उनके वचनों पर बार-बार विचार किया जाये अथवा उन विशेष शब्दों को बार-बार सुमिरन करके चित्त में बिठाया जाये ताकि वह विचार पक्का हो जाये और अंतरीय सफाई होती चले। इसीलिए उसी मार्ग की पुस्तकों के बार-बार पढ़ने की आवश्यकता महसूस होती है। दातादयाल महर्षि (शिवब्रत लाल) जी महाराज ने कई हजार पुस्तकें लिखी हैं और इस बुद्धि युग के लिये परम तत्त्व के समझाने का प्रयत्न किया है और परमसंत दयाल फकीर साहब ने भी अमल दृष्टि से उसको बिल्कुल स्पष्ट रूप देकर वर्णन किया है ताकि इन वचनों को बार-बार पढ़ने से सुमिरन का उद्देश्य पूरा होता रहे।

विनीत– स० सम्पादक।

राधास्वामी योग

छटवाँ भाग

योग साधन की विधि की व्याख्या
शब्द योग
वचन 127 उद्देश्य

उपनिषद् का कथन है कि यह नूर (ज्योति), जीवन, समस्त इन्द्रियाँ और अस्तित्व हमारी आत्माओं में है।

हम में, हमारे अन्दर हर हालतें मौजूद हैं। हमारे शरीर में उनके स्थान नियत हैं। यह सब स्थान सुप्त अवस्था में पड़े हुये हैं। यदि साधन करके उनको गर्मी पहुँचाई जाये और वह खुल जायें, तो उनकी ग्रन्थियों के खुल जाने से हम में अत्यन्त शक्ति आ जाती है।

एक वृहत सर्व व्यापक तत्व है और हम उसके अंश हैं, जैसे किरण सूर्य की और बून्द समुद्र की अंश है और रेत का कण रेगिस्तान का अंश है। उसी का जानना, समझना, उसकी भक्ति करना और उससे मिलकर एक हो रहना हमारे जीवन का उद्देश्य है।

उपनिषद् का कथन है– उसका जानना सच और सत्य होता है उसका न जानना मृत्यु की बराबरी है।

फिर हम उसको कैसे जानें? "भूतेषु भूतेषु विचिन्तया। उसका हर वस्तु और सब में साक्षात्कार कर लेने से।"

यही कर्म का उद्देश्य है, यही भक्ति का उद्देश्य है और यही ज्ञान का उद्देश्य है। कर्म, उपासना और ज्ञान का प्रयोजन केवल यही है।

जीव के जीवपने में, ईश्वर के ईशपने में और ब्रह्म के ब्रह्मपने में वही है। हमारे शरीर के शरीरपने में, हमारे मन के मनपने में, हमारी आत्मा के आत्मपने में, बड़ी असली तत्व व्यापक है और अंग-संग है। उसके सिवा और कुछ भी नहीं है और न हो सकता है।

वही सहस दल कँवल का ज्योति निरंजन है, वही त्रिकुटी का प्रणव ओ३म् है। वही सुन्न महासुन्न और दसवें द्वार की समाधि की अवस्था है। वही भँवर गुफा का सोहंग पुरुष और वही सत्य लोक का सत्य पद है आदि-आदि। सार वचन राधास्वामी नज़म के पृष्ठों में इसी एकता का वर्णन पूर्ण रूपेण है।

जो कुछ है वह है। उसका जान लेना हमारा कर्त्तव्य है। पिंड को पिंडी मन की सहायता से समझो बूझो। पिंडी मन की सहायता लेकर अपने अन्दर के ब्रह्माण्ड में चलो। पिंडी मन को ब्रह्माण्डी मन से मिला दो ताकि इस पिंडी मन से ब्रह्माण्डी गुण पैदा हो। यह ब्रह्माण्डी मन ही ओ३म् है। इसकी सहायता लेकर फिर ऊपर के मंडलों की सैर करो और इन मंडलों की जानकारी प्राप्त करो और तुम उसी एक के तेज को हर जगह व्यापक पाओगे। यह सर्वज्ञता है। जब तक यह नहीं आती, सर्वज्ञ की जानकारी प्राप्त नहीं होती। चाहे मिलते-जुलते उदाहरणों से किसी अंश तक समझ-बूझ आ जाये, लेकिन यह ज्ञान नहीं है। ज्ञान कुछ और ही वस्तु है और वह बिना उपासना व संयम के हाथ नहीं आता।

वही सब कुछ है। मृत्यु और जीवन दोनों उसी की छाया है।

मृत्यु का भय और जीवन की इच्छा क्यों हो? मृत्यु और जीवन अन्त में हैं क्या, जिनका भय या जिनकी इच्छा की जाये? दोनों समान

हैं। दोनों आवश्यक हैं। द्वन्द के स्थान पर दोनों ही का महत्व है। जीवन का अगर प्यार है तो मृत्यु का भी प्यार होना चाहिये। जीवन और मृत्यु दोनों ही को उसके प्यार से ढक दो, ताकि द्वन्द पना बिलकुल जाता रहे और दोनों की असलियत समझ में आ जाये। उस समय भय और आशा रूपी दोनों भूत भाग जायेंगे। जीवन यदि आता है तो उसे नमस्कार है। यदि जाता हो तो उसे नमस्कार है। जो मृत्यु है वही जीवन है। जो जीवन है वही मृत्यु है। उपनिषद् का एक श्लोक है जिसका अर्थ है– आशा ही से सब कुछ पैदा है। प्राण ही से सब कुछ जीवित है। प्राण ही विराट् है।

इस श्लोक को लेकर निर्भय होकर उद्देश्य की प्राप्ति करो। संदेह क्यों किया जाये? हम प्राण हैं। प्राण से प्राण की खोज करनी है। हम सत् हैं। सत् से सत्य की तलाश करनी है और यह क्या कठिन है। कठिनता और असभ्यता के ख्याल को दिल से हमेशा के लिए दूर कर दो। केवल खोज के विचार को पक्का करते हुये पंथ या राह में आ जाओ। पंथ पुस्तकों में नहीं है। तुममें और तुम्हारे ही अन्दर है। चलो और जैसा कि कठ उपनिषद् कहती है– ''उठो, जागो और चलो और जब तक इष्ट पद पर न पहुँच जाओ, ठहने और आराम लेने की ओर ध्यान तक न दो। इस तरह अमल करने से तुम अपने उद्देश्य को प्राप्त कर लोगे।

जो कदम आगे की तरफ होगा, वह मस्ती और आनन्द प्रदान करता हुआ होगा। लोक परलोक दोनों ही का सुधार होगा। एक हाथ सोने का दूसरा हाथ चाँदी का। इसमें तुम्हानी हानि ही क्या है? जो इस राह में आता है, वह अमृत हो जाता है। हाँ, अमृत हो जाता है। आनन्द की मूर्त्ति बन जाता है।

उपनिषद् का कथन है–''वह सर्वव्यापक सब में मौजूद है और इस कारण वह हर प्राणी की हर अवस्था का कल्याणकारी है। इसमें कोई संशय नहीं है।

राधास्वामी नाम धराया राधास्वामी।
राधास्वामी रूप दिखाया राधास्वामी॥

जो नाम और रूप है वही तू है। वही विराट् है, क्योंकि विराट् सबसे बड़े को कहते हैं।

राधा स्वामी भान किरन राधा स्वामी।
राधास्वामी सिन्ध बुन्द राधा स्वामी॥

वह सत्यता का स्वरूप ही है जो सूर्य्य और सूर्य्य की किरणों में झलकता है। वह असलियत है जो समुद्र और बुन्द दोनों में लहरा रही है।

वचन 128

शब्द अभ्यास

राधास्वामी योग ऐसा योग है जिसको समझना सरल है, साधन सरल है और शीघ्र सफल होता है। इसका कारण यह है कि वह केवल शब्द अभ्यास है। शब्द से सरल कोई वस्तु, कोई उपाय और कोई काम नहीं है। बातचीत करते हुये मुसाफिर सरलता से अपना रास्ता काट लेते हैं। बातचीत करते करते हाथ का काम इस तरह सहज में समाप्त हो जाता है कि पता भी नहीं लगता। यह साधारण बातें हैं। इनके अतिरिक्त बातचीत में जो मन को लगाने, आकर्षण करने तथा प्रसन्न करने की शक्ति है यह सब जानते हैं। वार्तालाप तवज्जह (चित्तवृति) को तुरन्त अपनी ओर खींच लेता है और चित्तवृति का एकाग्र होना योग है। चित्त की वृत्तियों के चंचल पने का दूर होना ही योग कहलाता है और यह क्रियात्मक रूप में हम अपने

कारोबार में देखते हैं। बच्चे बातचीत करते आये हैं और बुढ़ापे में भी बातचीत का स्वभाव रहता है। यह प्रकृति का स्वभाव है। बातचीत से ही जीवन भली प्रकार प्रगट होता है। यह सब जानते हैं।

बातचीत शब्द का व्यौहार है। केवल शब्द द्वारा ही जीव इन अपने आन्तरिक भावों के सुझाव को प्रगट करते हैं। बोलने ही को जीवन का सार बताया गया है। बच्चा दुनिया में पैदा होते ही शब्द करता है। अगर वह शब्द न करे तो वह मुर्दा समझा जाता है। आदमी बोलता पुरुष कहलाता है। यहाँ हर वस्तु बोलती है। चाहे तुम इसे मानो या न मानो। फलों की कलियाँ चटकती हैं। यह बोलना ही तो है। कुदरत के हर काम में गति है। गति शब्द से कभी रहित नहीं है। यहाँ रेत के कण-कण की गति में नियमित रूप से सुरीला शब्द होता रहता है। वायु सन सन करती है। जल चल-चल शब्द करता है। अग्नि भक भक शब्द करती हैं। जिस वस्तु को तुम सुस्त और जड़ देखो तो उसे भी सुस्ती और जड़ता में शब्द करते हुये पाओगे। शब्द से रहित कोई वस्तु नहीं है। मेज और कुर्सियाँ कमरे के अन्दर सजी हुई हैं। तुम उन्हें खामोश समझते हो मगर हम ऐसा नहीं समझते, क्योंकि उनके अन्तरीय और बाहरी कण सब हर समय गति में रहते हैं। यदि गति न होती तो मेज और कुर्सियों की हालत कैसे बदलती? आज कुछ हैं कल कुछ हो जाती हैं और परसों में सिकुड़कर मिट्टी बन जाती हैं। यह केवल कणों की गति ही का परिणाम है। बर्फ में गति है। ठोस से ठोस चीज में गति है और सब गति करती हुई शब्द करती रहती है।

इसी कारण से समस्त बुद्धिमान, फिलोस्फर और योगियों ने इसी शब्द को असली सार और प्रकृति का असली तत्व माना है। जो है वह यही है। यही चेतन का लक्षण है। यही जीवन की शोभा है। इसी से सब कुछ पैदा होता है और इसी में सब कुछ समा जाता है।

शब्द गुप्त तब रहा अनाम। शब्द प्रगट तब धरिया नाम॥

यही नाम है और यही अनाम है। यही रूप है। यही अरूप है। यही आकार है। यही निराकार है। यही सर्गुण है। यही निर्गुण है। यही त्रिगुणात्मक है। यही गुणातीत है। तात्पर्य्य यह कि जो कुछ है वह यही है।

हमारे शास्त्र कहते हैं कि शब्द आकाश का गुण है और शब्द ही आकाश की जान है और इसमें कोई संदेह नहीं है। आकाश तत्व जो सबसे पहला महाभूत समझा जाता है, वह इसी शब्द से पैदा हुआ है। आकाश की उत्पत्ति शब्द ही से होती है और यही आकाश अपनी बारी पर गति मान होकर शब्द को प्रगत करता हुआ वायु, अग्नि, जल और मिट्टी को पैदा करता है। इन सबका आदि और अन्त शब्द ही है।

तुम पूछोगे– "क्या आत्मा भी शब्द है?" हम जवाब देंगे "हाँ, आत्मा भी शब्द है।" यह सुनकर तुमको बड़ा आश्चर्य होगा। लेकिन आत्मा है क्या, इस पर बहुत थोड़े लोग विचार करते हैं। संस्कृत के कोष यास्कमुनि के "निरुक्त" में इसका अर्थ पढ़ो तो वह तुमको इसका अर्थ बतायेगा। आत्मा दो शब्दों से निकला है, अत (गति करना) और मनन (सोचना)। देखो यहाँ भी गति और सोचना है। गति और विचार से रहित तुम्हारा आत्मा भी नहीं है। गति और विचार शब्द में है। फिर यह आत्मा 'निरुक्त' (ग्रन्थ) के अर्थ के अनुसार शब्द सिद्ध हुआ।

ब्रह्म शब्द है, परब्रह्म शब्द है, सोहंग शब्द है, सत शब्द है और जब शब्द ही सब की जान हुआ, तो फिर यह सब के सब शब्द क्यों न होंगे।

सम्भव है कि तुम विचार करते हुये शब्द को आकाश की चोटी, आकाश की जान और आकाश का गुण मान कर यह स्वीकार कर लो

कि शब्द तत्व तो है मगर इसके सिवा आत्मा कोई अलग वस्तु है। अगर ऐसा तुम्हारा ख्याल है तो हम तुम से पूछेंगे कि तुम बताओ तो सही कि तुम आत्मा किसे कहते हो। तुम कहोगे कि आत्मा वह है जिसमें छः गुण हैं। राग, द्वेष, सुख, दुख, इच्छा, ज्ञान। यह न्याय शास्त्र का कथन है। बहुत अच्छा। अब तुम आप ही सोचो कि इन गुणों में कौन सा गुण ऐसा है जो शब्द से रहित है। देखो पक्षपात और हठ धर्मी में न पड़ो। असलियत पर असलियत की दृष्टि से विचार करो ताकि किसी तरह का मन में भ्रम न हो। जो कुछ तुम को कहना सुनना है कहते सुनते चलो। तर्क वितर्क करो, इसमें हानि नहीं लेकिन संकीर्ण हृदय और हठी न बनो, न पक्षपात करो और हम तुमको सरलता से समझा देंगे।

तुम जो कुछ कहोगे, सोचोगे, समझोगे, वह शब्द ही होग और अन्त में शब्द ही में मन, बुद्धि और अहंकार का ठहराव होगा। उत्तर मीमांसा और पूर्व मीमांसा (वेदान्त) योग और सांख्य, न्याय और वैशेषिक यह षट दशन हैं। इन्हीं पर बहस करो और अन्त में बहस शब्द ही पर आकर समाप्त होगी। इनके सिवा और भी जितने दर्शन जैसे कि व्याकरण आदि हैं, वह भी सब शब्द ही की व्याख्या करते हैं। हाँ, इतना अन्तर अवश्य है कि खुले शब्दों में राधास्वामी मत की तरह कथन नहीं करते, संकेतों से काम लेते हैं क्योंकि उन्होंने एक-एक विषय को दृष्टि में रख कर वर्णन किया है। राधास्वामी मत चूँकि विश्वव्यापी मार्ग और विश्वव्यापी दर्शन (फिलोसफी) है, यह तमाम दर्शनों की शाखाओं को पूरी करता है। उलझता एक से भी नहीं और न किसी के खंडन से सम्बन्ध रखता है। यह हाथी का पाँव है। हाथी के पाँव में सब का पाँव रहता है। राधास्वामी मत के पेट में तमाम मत मतांतरों के ख्यालात रहते हैं। यह ऐसा पूर्ण मार्ग है।

वेद कहते हैं शब्द, ब्रह्म, प्रणव शब्द। इन सब शब्दों के अन्दर वही संकेत मौजूद हैं जो हम तुमको दिखाते चले आ रहे हैं।

योग कई प्रकार के हैं– प्राण योग, ध्यान योग, ज्ञान योग, भक्ति योग, कर्म योग, हठ योग आदि आदि। यह प्राण क्या है? शब्द ही का तो स्थूल रूप है। यह शब्द प्राणों का प्राण, ध्यान का ध्यान, ज्ञान का ज्ञान, भक्ति की भक्ति, कर्म का कर्म, तात्पर्य कि यह सब का सार है। इसी दृष्टि से राधास्वामी मत ने इस सार को लेकर केवल शब्द योग की कमाई की आज्ञा दी है कि मन सरलता से चारों ओर से हट कर उसमें लगे और सरलता से अपना काम बना ले। दूसरे सब साधन इस साधन से कठिन और असाध्य हैं। दूसरे विद्वानों ने साधन सम्पन्न न होने के कारण इनको व्यर्थ हौवा बना रखा है, जिसकी वजह से वह बेकार हो रहे हैं। राधास्वामी मत कहता है कि सबकी ओर से अपनी चित्तवृत्ति (तवज्जह) को हटा लो। केवल शब्द योग के अभ्यास में लगो और उसका फल कुछ ही दिनों में तुम स्वयं देख लोगे।

कहावत है– ''हल्दी लगै न फिटकरी और रंग चोखा आवै'', यह ऐसा ही साधन है और अगर तुम जरा भी हमारी बातों की तरफ ध्यान दोगे, तो उसको ज्यों का त्यों सही और सच्चा मान लोगे।

क्या तुम नहीं देखते कि सितार, तबला, मृदंग, सारंगी और बीन बांसुरी की आवाज, सुन कर तुम कैसे मोहित हो जाते हो। इसका कारण और कुछ नहीं है। यह शब्द के साज हैं और शब्द हैं। शब्द में विशेष प्रकार का चुम्बकीय आकर्षण रहता है जो मन को अपनी ओर खींच लेता है और शक्ति हो तो इस को सच्चा मान लो। चाहे उसकी सच्चाई से इंकार करो, लेकिन इंकार हो कैसे सकता है। एक बच्चा तक इसे जानता है। बीन की आवाज़ पर हिरन मुग्ध हो जाता है। सपेरे

की तोमड़ी के शब्द पर साँप नाचने लगता है। सारंगी और रुबाब को सुन कर घोड़े गति रहित हो जाते हैं। मनुष्य तो मनुष्य है, बाजों का शब्द पशुओं को भी समाहत बना देता है। उनकी समाधि लगने लगती है। राग और गाना हर रोग का इलाज है। कुदरत के समस्त जीव जन्तु इसके असर में आ जाते हें। शब्द विद्या विचित्र प्रकार की चीज़ है और उसका कारण यही है कि शब्द सबका सार और सब की जान है। इससे सम्बन्ध रखना मानवता का रूप है। कोई इसके प्रभाव से खाली नहीं रह सकता।

यह बार की रचना में तुम देखते हो। इसी तरह अगर अन्तर मुखी वृति का साधन किया जायेगा और अंतरीय शब्द के सुनने का अभ्यास किया जायेगा तो कैसे सम्भव है कि वह प्रभाव हीन रहेगा। बाहर के शब्द फिर भी स्थूल हैं। अन्दर के शब्द सूक्ष्म हैं। स्थूल से सूक्ष्म में अधिक शक्ति होती है और जब बाहरी और स्थूल शब्दों के प्रभाव का यह हाल है तो अन्तर में अंदरूनी सूक्ष्म शब्दों की क्या दशा होगी। वह कितने मनोरंजक और चित्ताकर्षक होंगे और कितनी सरलता से चित्त की बिखरी हुई वृत्तियों के समेटने में सहायक होंगे।

शब्द का अभ्यास हर मार्ग में था और अब भी है, लेकिन लोगों को ज्ञात नहीं है। पंतजलि ऋषि के योग में उसका संकेत है। उपनिषदों में उसका दबे शब्दों में वर्णन आता है। कोई हम से पूछे तो हम बतायें। बिना पूछे हम क्यों बतायें। बिना पूछे हुये कोई किसी को क्या कहे। यह सब उसकी खबर तो देते हैं लेकिन गुप्त रूप से। राधास्वामी मत उसकी व्याख्या करता हुआ इस समय के जिज्ञासुओं को शब्द के साधन की हिदायत करता है।

वचन 129

भिन्न भिन्न प्रकार के शब्द

शब्द की विशेषता के सम्बन्ध में कुछ पहले वचन में कहा गया है लेकिन याद रखना चाहिये कि इस रचना में कई तरह के शब्द होते हैं। जैसे आत्मिक शब्द, मानसिक (सूक्ष्म) शब्द, स्थूल शब्द। जो शब्द कि आत्मा से धार रूप में निकलता है वह आत्मिक, जो मन से निकले वह मानसिक और जो ब्रह्माण्ड में पार्थविक (भौतिक) वस्तुओं से निकले वह स्थूल शब्द है।

इनके प्रभावों में अन्तर होता है। मानसिक और भौतिक (स्थूल) शब्द का सम्बन्ध बाह्य है और आत्मिक शब्द का सम्बन्ध आंतरिक शब्द से है। आत्मिक शब्द तो अन्तर मुखी वृति हैं और दूसरे शब्द बहिर्मुखी कर देते हैं। इसका कारण यह है कि शब्द में यद्यपि आकर्षण शक्ति तो है लेकिन इनका आकर्षण बाहर होता है क्योंकि उनकी व्यवस्था बाहर है और आत्मिक शब्द का आकर्षण अन्तर की ओर होता है क्योंकि वह शब्द अन्तर में है।

बाह्य शब्द के प्रभाव को तो सब जानते हैं लेकिन अंतरीय शब्द का ज्ञान उस समय तक होना कठिन है जब तक अंतर में साधन न किया जाये। जो थोड़ा बहुत भी अभ्यास करते हैं उनको समझाने-बुझाने की बिल्कुल आवश्यकता नहीं है, क्योंकि वह आंतरिक साधन करते रहने से स्वयं ही जानते हैं कि जहाँ से शब्द आता है। आदमी की चित्तवृति (तवज्जह) स्वयं उस स्थान की ओर खिंच जाती है लेकिन

हमको यहाँ ऐसे आदमियों को भी समझाना है जो इस विषय में अनभिज्ञ हैं। उनको हम बाह्य शब्दों के प्रभाव की ओर ध्यान दिलाकर अनुमान की सहायता से समझाने का प्रयत्न करते हैं।

तुम देखो कि कहीं घंटा, शंख, मृदंग, बाँसरी या बीन बज रही है। जब तुम बाहर में इनको सुनोगे तो चित्तवृति स्वयं उस स्थान की ओर जायेगी जहाँ से वह शब्द निकल रहा है। और अगर तुम उस विशेष बाजे के शब्द को सुनते हुये उस तरफ चले चलो जहाँ से वह आ रहा है तो वहाँ पहुँच जाओगे। यह सही और सच्ची बात है। शब्द बाहर से आ रहा है और तुमको बाहर ही उसका ज्ञान होगा और बाहर ही उसका तमाशा देखोगे। इसी तरह अन्तरीय शब्द या अनाहत बाणी जिसका अन्तर में साधन किया जाता है, किसी अन्तरीय स्थान या केन्द्र से निकला करती है और जब तुम उसे सुनने लगोगे तो आवश्यक है कि तुम अन्तर की ओर झुकोगे।

मनुष्य के बाहर हर जगह हजारों ही नहीं किन्तु अनगिनत प्रकार के शब्द होते रहते हैं, लेकिन सारा सम्बन्ध केवल उन शब्दों से रहता है जिनसे व्यौहार या जीवन के दैनिक कारोबार में सहायता मिला करती है। यही दशा अन्तरीय शब्द की भी है। अन्तर में भी अनगिनत प्रकार के शब्द होते रहते हैं और बाहरी शब्द की तरह हमको अन्तर में केवल उन विशेष धुनों या शब्दों को छाँटकर चलना होता है जिनकी शिक्षा गुरू देते हैं और उन्हीं के साधन से लाभ होता है। बाकी शब्दों को छोड़ देना पड़ता है। अगर यह सावधानी न की जाये तो फिर पंथाई भय में पड़ जाता है। और अगर वह बहक गया तो फिर सँभलना कठिन हो जाता है।

प्रायः लोग अनापशनाप बिना समझे-बूझे अन्तर में शब्द का अभ्यास करते हैं। परिणाम यह होता है कि राह से भटक जाते हैं और उनका परिश्रम निष्फल हो जाता है। हमारे अन्दर हजारों ही तरह की

नस और नाड़ियाँ हैं और उनके द्वारा विभिन्न रूपों में जीवन की धार आती है और उस धार की गति के सिलसिले में शब्द हुआ करता है।

राधास्वामी मत में बताया है कि इन तमाम नस और नाड़ियों में तीन नाड़ियाँ मुख्य हैं जिनका नाम इंगला, पिंगला और सुषुम्ना है। यह मूल चक्र या गुदा चक्र से चलती हैं और तीसरे तिल में पहुँचकर उनकी वैसी शक्ल हो जाती है, जैसी कि वैष्णवों के माथे के तिलक में हम देखते हैं। इंगला, पिंगला दायें-बायें हैं। इनको छोड़ देना होता है। केवल बीच वाली नाड़ी सुषुम्ना में ठहर कर उसी के विभिन्न स्थान या चक्र के शब्द का साधन करना पड़ता है। इंगला, पिंगला की राह दूसरी ओर गई है। सुषुम्ना नाड़ी सीधी चोटी के स्थान तक गई है और उसी ओर सुरत को ले जाना चाहिये। हिन्दुओं में चोटी का रिवाज इसी कारण से हैं। यह तमाम नस और नाड़ियों का एक केन्द्र है। इसका सम्बन्ध सबसे है, क्योंकि धार यहाँ ही से आती है। लेकिन बेठौर ठिकाने का साधन करने का परिणाम लाभदायक नहीं होता। सीधी राह को छोड़कर कोई टेढ़ी राह क्यों चले।

हमारे मस्तिष्क में इसी सुषुम्ना नाड़ी की सीध में कई केन्द्र हैं मगर इनमें पाँच मुख्य हैं और पाँच केन्द्रों के पाँच ही शब्दों के साधन से सम्बन्ध रखना पड़ता है। शेष को छोड़ दिया जाता है।

इन पाँचों स्थानों में पाँच प्रकार का शब्द और पाँच प्रकार का प्रकाश रहता है। राधास्वामी मत में इन सबकी व्याख्या कर दी जाती है। सार वचन राधास्वामी नज़म में कहा गया है-

पाँच नाम का सुमिरन करो।

और गुरू नानक साहब ने भी कहा है-

पाँच शब्द धुंकार धुन, बाजे शब्द निशान है।

वचन 130

शब्द का प्रभाव

हर शब्द में विशेष प्रकार का प्रभाव होता है। यह प्रभाव बाहर के शब्द में भी है और अन्तर के शब्द में भी है। इसका कारण यह है कि हर प्रकार का शब्द विशेष स्थान से विशेष भावों को लिये हुये जाता है और उस स्थान की सूक्ष्म या स्थूल शक्ति उसमें रहती हैं। जो आदमी इस दृष्टि से जिस स्थान पर उसके विशेष शब्द का साधन करेगा, उसमें उसी तरह से सूक्ष्म या स्थूल प्रभाव पैदा होंगे और यह प्रभाव उसके जीवन को बदल देंगे।

शब्द केवल उनके प्रगट करने का साधन ही नहीं है किन्तु वह जीवन के भिन्न-भिन्न भावों का प्राकट्य है। जीवन का शब्द एक होता है और सिलसिले में चलता है। जीवन के भावों के शब्द विभिन्न प्रकार के और बहुत से होते हैं। तुम हँसते हो, हँसी का शब्द और है। तुम रोते हो, रोने का शब्द और है। तुम क्रोध करते हो, क्रोध करने का शब्द एक विशेष प्रकार है। तुम दया और सहानुभूति करना चाहते हो तो दया और सहानुभूति के शब्द की सूरत और ही तरह की होती है। इसी तरह अगर एक-एक भाव के एक-एक शब्द पर विचार करते चलो तो इसी शब्द के अन्दर आश्चर्यजनक दशायें दिखाई आने लगेंगी।

शब्द औषधि है, शब्द रोग है। शब्द से आदमी मर जाते हैं, उनका कलेजा फट जाता है। शब्द ही जीवन प्रदान करता है और घाव पर

मरहम लगता है। ज्ञान का शब्द जहाज बनकर भव सागर से पार लगा देता है। अज्ञान का शब्द संसार के दु:खों के बँधन में फँसा देता है। काम, क्रोध, लोभ, मोह और अहँकार शब्द से प्रगट होते हैं और शब्द ही सबका आधार बना रहता है। बुराई, भलाई सब कुछ शब्द में हैं। और यही हर जगह विभिन्न दृश्य दिखाता रहता है।

कबीर साहब की वाणी है–

1. **शब्द ही मारे बन गये, शब्द ही तजिया राज।**
   जो यह शब्द विवेकिया, ता का सरिया आज॥
2. **एक शब्द सुखराम है, एक शब्द दुखराम।**
   एक शब्द बँधन कटे, एक शब्द गले फाँस॥
3. **शब्द गुरू को कीजिये, बहुते गुरू लबार।**
   अपने अपने लाभ को, ठौर ठौर बटमार॥

जो शब्द जहाँ से, जिस स्थान से, जिस आदमी से निकलता है उसी स्थान और उसी आदमी के प्रभावों को अपने साथ रखता है। आदमी ही पर क्या निर्भर है, हर पशु और जड़ वस्तु के शब्द पृथक पृथक होते हैं। जो जैसा है वैसा शब्द करता है और उसी तरह का प्रभाव उससे निकलता है। यह न समझो कि जानदार ही शब्द करते हैं, बल्कि निर्जीव कण-कण और बूँद-बूँद से शब्द होता है और यह शब्द ही के प्राकट्य के विभिन्न दृश्य हैं। शब्द व्यापक तत्व है। जहाँ जिस वस्तु के द्वारा शब्द होता है, उसी तरह का शब्द उससे निकलता है।

शब्द कानून है। शब्द कुदरत की शक्ति है। शब्द ही परम तत्व है। जो ब्रह्म का ब्रह्म कहलाया जाता है, वह शब्द ही है। जो प्राणों का भी हर समय प्राण बना रहता है, वह शब्द ही है। शब्द ही सगुण, निर्गुण, साकार और निराकार है और शब्द ही स्थूल, सूक्ष्म और कारण है।

इसी कारण राधास्वामी मत ने इस परमतत्व को छाँट कर सिर्फ शब्द योग द्वारा निर्वाण और धुरपद की प्राप्ति की युक्ति बताई है। जिसको हम ईश्वर, परमेश्वर, खुदा और आदि कारण कहते हैं, वह शब्द ही हैं; क्योंकि यह ईश्वर, परमेश्वर, खुदा और आदि कारण तक की जान है। यही सबके अंदर रहने वाला अन्तर्यामी अंतरआत्मा है। लोग विचार नहीं करते और न सोचते हैं वरना इस शब्द की असलियत की समझ आ जाये।

ब्रह्म, परब्रह्म, शुद्ध ब्रह्म, ईश्वर और परमेश्वर आदि के अन्दर यह शब्द कानून है। मनुष्य में चूँकि मन और बुद्धि उचित रूप में वृद्धि को प्राप्त होते हैं, यही शब्द कानून बना हुआ विभिन्न रूपों का तमाशा दिखाता है। पशुओं में चूँकि मन और बुद्धि की गढ़त इतनी नहीं होती, वह केवल मन बुद्धि के प्रारम्भिक भाव को प्रगट करते हैं। मन बुद्धि से मिलकर यही शब्द अत्यन्त पवित्र विचार और मानसिक भावों को बनाने का पक्का यंत्र बन जाता है। यह शब्द ही है जो कवि की ऊँची उड़ान में सुन्दर विचार बनकर उड़ता रहता है। यह शब्द ही है जो ऋषियों के उच्च विचार के दर्पण में शील, धर्म, असली निज स्वरूप के प्रतिबिम्ब को दिखाता रहता है। उपदेशक जब अपने हृदय को किसी विचार से प्रभावित करके व्याख्यान देने लगता है तो सुनने वालों के हृदय विशेष प्रकार के जोश से भर जाते हैं। कभी वह अपने भाषण से रूलाता है, कभी हँसाता है, कभी दिल को भड़का देता है और कभी साहसहीन कर देता है।

अब सोचो, जब इन्सान अपने बाहरी शब्दों से हृदय पर केवल शब्द के द्वारा विशेष-विशेष प्रभाव पैदा कर सकता है तो आत्मिक मंडल में जहाँ यह शब्द व्यापक बना हुआ है कैसा शक्ति शाली होगा। प्रत्येक मंडल या स्थान और प्रत्येक आत्मिक स्थानों के शब्द के

प्रभाव विशेष रूप से शक्तिशाली होते हैं। जो मनुष्य इनके प्रभाव को अपने अन्दर बराबर लिया करता है और उसी का साधन किया करता है, उसका क्या लाभ होगा, क्योंकि वह उनके प्रभाव से कभी खाली नहीं रह सकता है।

इस स्थूल जगत में यह शब्द इतगीत अर्थात् इधर का राग कहलाता है और आत्मिक मंडल में वह उद्गीत यानी उधर का राग कहलाता है। ओइम् इद् गीत है। सोहंग उद् गीत है।

इसी शब्द में उसकी असलियत के गुण मौजूद रहते हैं। बँदूक चली, गोली निशाने पर बैठी और साथ ही बारूद का गुबार उड़ा और उसकी गंध फैली, क्योंकि यह सब उसमें, उसके साथ और उसके अन्दर मौजूद रहते हैं।

वचन 131

शब्द अभ्यास से अंतरीय एकाग्रता

बाहरी शब्द का लगाव बाहर से है। अन्तरीय शब्द का लगाव अंतर से है। बाहर के शब्द को सुनकर तुम बाहर की तरफ दौड़ते हो। अन्दर के शब्द को सुनने से उसी नियम के अनुसार तुमको अंतर में जाना और आकर्षित होना पड़ता है, जहाँ से वह शब्द आ रहा है। इस तरह अंतरीय साधन करने और अंतरीय शब्द के बराबर सुनते रहने और अंतर के केन्द्र की ओर आकर्षित होते रहने से कैसे संभव है कि अभ्यासी अन्तर मुखी न बने। अत्यन्त ही सरल सी बात है जो साधारण बुद्धि का आदमी भी सुगमता से समझ सकता है। जो सोच समझ वाले हैं उनके लिये केवल इतना कहना पर्याप्त है। अधिक कहना व्यर्थ है।

वचन 132

तीन तरह के साधन

राधास्वामी मत में जो सुरत शब्द योग का साधन बताया जाता है, उसके तीन अंगों का वर्णन दूसरी जगह आ गया है। उनकी विशेष व्याख्या फिर यहाँ कर दी जाती हैं ताकि यदि असलियत समझने में कुछ कमी रह गई है तो वह पूरी हो जाये।

तीन तरह के साधन को सुमिरन, ध्यान और भजन कहते हैं।

सुमिरन इष्ट या आदर्श के नाम का बराबर स्मरण कराता जो हृदय पर बराबर चोट पर चोट लगाकर स्मरण कराता रहता है। यह साधन हर स्थान पर प्रारम्भ में करना पड़ता है, क्योंकि अगर इसका उद्योग न किया जाये तो फिर एक ही स्थान में लय हो जाने का भय रहता है। वृति अभ्यास के मंडल में समा जाती है और फिर उसका उत्थान होता है। उत्थान होने और किसी स्थान के पूरे तौर पर प्राप्त कर लेने पर यह नाम बराबर बताता रहता है कि यही स्थान इष्ट पद नहीं है, किन्तु वह इष्ट पद दूर है। जब तक वह धुर पद या निज पद तक रसाई नहीं दिला लेता, तब तक बन्द नहीं होता। यह नाम योग है।

कलियुग में नाम ही से मुक्ति है। अन्य किसी जप, तप, संयम, नियम की इस समय आवश्यकता नहीं है। यह नाम वर्णात्मक बनाकर अभ्यासी को दिया जाता है। वर्णात्मक वह नाम है जिसका जिभ्या

और अक्षरों के द्वारा नक्शा खींचा जाये, लेकिन यहाँ ही तक उसकी सीमा नहीं है। वह धुनात्मक भी है। धुनात्मक उसे कहते हैं जिसकी केवल धुनि सुनी जाये और वह लिखने-पढ़ने में न आवे। अक्षरों की सूरत में केवल उसका समझाना-बुझाना होता है और बस। ओइम् इसी प्रकार का नाम है, जिसकी मिलती-जुलती शक्ल अ-उ-म के संगठित रूप में कायम की गई है लेकिन त्रिकुटी में विशेष रूप में और त्रिलोकी में साधारण रूप में इसकी ध्वनि गूँजती रहती है। वह त्रिलोकी के तमाम शब्दों की माता है। इसी ओंकार से त्रिलोकी का पसारा है। वाचक पंडित तो उसे प्राय: बुद्धि ही समझते हैं और अक्षरों की व्याख्या में अपनी पण्डिताई खर्च कर देते हैं, लेकिन असल में वह केवल ध्वनि है जिसे उपनिषद् उद्गीत कहते हैं। वह त्रिलोकी में उसी तरह गूँज रहा है जैसे घंटे का शब्द घंटे से निकलता है।

घंटे की ध्वनि को जिभ्या से कौन उच्चारण कर सकता है। केवल समझाने बुझाने के लिए कोई उसे टन-टन कहता है, कोई डंग डोंग बताता है, लेकिन वह टन-टन और डंग-डोंग के सिवा और भी कुछ है। यह ओइम् असली वेद है। राधास्वामी मत में उसे गुरुवाणी कहते हैं। इसी से वेद ज्ञान की उत्पत्ति है और स्वयं वेद ज्ञान है। बिल्कुल इसी तरह सोहंग आदि शब्द भी हैं जो धुनात्मक होते हुये वर्णात्मक शक्लों में साधक को समझाये जाते हैं। राधास्वामी मत में इन सबका विशेष महत्व है लेकिन उसके यहाँ सबसे अधिक बल केवल सबसे ऊँचे नाम पर दिया जाता है और उसी को इष्ट ठहराया जाता है और उसी का सुमिरन होंठ और जिभ्या बिना हिलाये बताया जाता है जिसे अजपा जाप कहते हैं। इस अजपा जाप से हृदय पर चोट लगती रहती है और इष्ट का ध्यान आप ही आप हो जाता है।

दूसरा अभ्यास ध्यान कहलाता है, जो आँख की पुतलियों को उलट कर अन्तर में विशेष स्थानों के प्रकाश या ज्योति में जमाया जाता है। जहाँ नाम है वहाँ रूप भी है। जहाँ शब्द है, वहाँ ज्योति भी है। जिस तरह एक स्थान का शब्द दूसरे स्थान के शब्द से भिन्न है, उसी तरह ध्वनि, देवता और मुवक्कल का रूप भी दूसरी ध्वनि, देवता और मुवक्कल के रूप से भिन्न है। विराट की ज्योति ओ३म् की ज्योति से भिन्न है। इस ज्योति को देखना ध्यान कहलाता है। यह ध्यान योग है। रूप के देखने का साधन ही ध्यान है। इसके सिवा ध्यान और कुछ है। सम्भव है कोई विचार को ध्यान कहे। उसे ऐसा कहने का अधिकार है लेकिन विचार का भी तो साक्षात्कार होता है। अगर विचार से ज्यों का त्यों साक्षात्कार नहीं होता तो वह साधन अधूरा है। ध्यान और विचार में इतना भेद नहीं है बशर्ते कि साक्षात्कार का उससे मौका मिले, लेकिन लोग तो उसे कुछ और का और समझ बैठे हैं। राधास्वामी मत इनको बिल्कुल अमलीतौर पर ध्यान करने का साधन बताता है। ध्यान उसके यहाँ पाँच तरह का है। ध्यान करने से पाँच तरह की ज्योति मस्तिष्क के अन्दर क्रमश: एक से एक बढ़कर दिखाई देती है। यह ध्यान की हद है। उपनिषद् में संकेत रूप में उसे सिर में पँच अग्नि धारण करने की क्रिया का नाम दिया गया है। उसका वर्णन 'मुन्डक उपनिषद्' में आया है, लेकिन वहाँ केवल संकेत ही संकेत है। संकेत को न समझकर नादान पंडित सचमुच सर में पाँच प्रकार की स्थूल अग्नि रखना ही समझ बैठे हैं और पँच अग्नि विद्या उनके यहाँ समाप्त हो गई। यह गुप्त विद्या है जो गुरू शिष्य को गुप्त रीति से बनाते चले आये हैं। जब साधन नहीं रहा तो पंडितों ने उसे कुछ का कुछ बताना शुरू किया और वह धीरे-धीरे नष्ट हो गया। राधास्वामी मत उसको अब स्पष्ट करके समझा देता है। पंथाई के लिये घंट के पंथ के तय

करने में ज्योति से मदद लेनी पड़ती है और अन्धकार में यह चमकती हुई ज्योति रास्ता बताती है और अपनी ओर ले जाती है। घट में अंधेरा है। अंधेरे में राह चलना कठिन होता है। यह ज्योति सहारा दे दे कर इस कठिनाई को दूर करती है।

तीसरा साधन शब्द का सुनना है। शब्द सुनना और गीत गाना एक ही बात है। यह भी गुप्त विद्या है और गुरू से भेद लेकर अपने ही अन्दर यह राग और उद्‌गीत प्राणों द्वारा गया जाता है और प्राणों के कान से यह सुना जाता है परन्तु भोले-भाले पंडित उद्‌गति को कुछ का कुछ समझ बैठे। मुल्ला और पंडित दोनों ही की एक जैसी हालत हो गई। दोनों ही अज्ञानता के चंगुल में फँस फँसा कर रह गये। यह राग भी पाँच तरह के हैं और यह असली नाम हैं। यह नाम जो पहले बताया गया वह वर्णात्मक था। अब उसे धुनात्मक की सुरत में सुनने और ग्रहण करने की शिक्षा दी गई। यह साधन का सर्वोपरि अंग है। शब्द से अधिक अच्छा और कोई साधन नहीं है।

शब्द अपने स्वाभाविक आकर्षण से मन को एकाग्र कर लेता है और इष्ट पद पर पहुँचा देता है। राह में ऐसे स्थान भी आते हैं, जहाँ घुप अँधेरा है। यह सुन्न और महासुन्न का स्थान है। जब राह में अंधेरा है तो फिर बताइये साधक किसका सहारा ले? उसके लिये यहाँ शब्द ही से सहारा लेने की हिदायत है। यों समझो कि कोई यात्री अँधेरी रात में किसी गाँव की तरफ चला जा रहा है। आकाश पर काली घटा छाई हुई है। यह भी नहीं मालूम कि रास्ता किधर को है। अँधेरे में राह से बेराह हो जाना साधारण बात है, लेकिन अगर वह होशियार है तो शब्द की ओर ध्यान देता है और कुत्तों के भौंकने की आवाज को सुन कर समझ जाता है कि यहाँ कोई न कोई बस्ती अवश्य है और आवाज़ का

सहारा लेकर वह उसी की ओर पैर बढ़ाता है। बस्ती में पहुँच कर रात काट लेता है। यही दशा साधक को दिये, वह सहायक सिद्ध होते हैं और इष्ट पद पर पहुँचा देते हैं। प्रकाश भी अगर न हो तो उसमें इतनी हानि नहीं होती, यद्यपि वह आवश्यक वस्तु है, परन्तु शब्द का होना मुख्य है और शब्द चूँकि व्यापक तत्व है, वह हर जगह गूँजता ही रहता है। घट में सब से अधिक जोर अंतरीय शब्द को सुनने पर दिया जाता है। इसी कारण राधास्वामी योग का नाम सुरत शब्द योग रखा गया है।

वचन 133
आत्मिक उन्नति

जितने प्रकार के योग दुनिया में प्रचलित हैं, उन सबका उद्देश्य आत्मिक उन्नति है। उन्नति का अर्थ है ऊपर चढ़ना। आत्मा का ऊपर चढ़ना आत्मिक उन्नति है। ऊपर और नीचे सार्पोक्षिक शब्द है। जहाँ निचाई की दृष्टि है वहाँ ही ऊँचाई की भी दृष्टि रहती है। प्राय: लोग आत्मा के सम्बन्ध में ऊँचे और नीचे पने के विचार को वहम समझते हैं, लेकिन रचना में द्वन्द्व है। यहाँ पग-पग पर चित्त में एक हालत आते ही दूसरी भी चित्त में आ जाती है। इससे बचाव नहीं है।

हमारे शरीर में सिर ऊँचा है और पाँव नीचे हैं। सिर में हर प्रकार की शक्तियों व चेतन्यता का भंडार है। पाँव में उनकी कमी है। इसी तरह यह क्रम प्रकृति के हर मंडल में दिखाई देता है। जहाँ सिर है वहाँ पैर भी है और जहाँ पैर है वहाँ सिर भी है और अगर सिर और पैर का यह क्रम नज़र न आये जो हमारे शरीर में मौजूद है, तो वह गोलाकार होगा। उसमें भी दूसरे यानी अंतिम छोर स्थापित करने पड़ेंगे। जिसमें

अधिक शक्ति होगी उसे सिर और जिसमें कभी होगी उसे पाँव मानना पड़ेगा। बिना इस भेद के रचना की व्यवस्था असम्भव होगी।

हमारे शरीर में एक सिरा तो हमारा सिर है और दूसरा सिरा हमारे नीचे का धड़ है। हर जगह यही दशा है। यहाँ तक कि हम जिसे ईश्वर या ब्रह्म मानते हैं, वह भी इससे रहित नहीं है। कोई वस्तु चाहे कैसी ही सूक्ष्म क्यों न हो, इस विशेषता को अपने अंदर रखती है। संत मत में तो यह बात स्पष्ट शब्दों में कही जाती है और, जगह इतनी स्पष्टता कम है। लेकिन इसे मानते सब ही हैं। उपनिषदों में जहाँ ईश्वर का वर्णन आता है, उसके विषय में कहा गया है कि (द्यौ) आकाश उसका सिर है, अंतरिक्ष उसका पेट है और पृथ्वी उसका पाँव है। सारी शक्तियाँ मस्तिष्क में है। वह मस्तिष्क ही से उतर कर शरीर में आती है और फिर मस्तिष्क ही की ओर खिंचती रहती है। जब उनका नीचे की ओर उतार होता है, तब ही शरीर का कारोबार होता है और जब वह खिंच जाती है और मस्तिष्क की ओर चली जाती है, तब यह व्यौहार बन्द हो जाता है या उसमें कमी आ जाती है। धारों के उतार में जीवन है और धारों के खिंचाव में मृत्यु है। यह लगभग सब समझते हैं।

धार कई तरह की हैं– आत्मिक, मानसिक, बौद्धिक और भौतिक और रचना इन्हीं के आने जाने का नाम है। इसी को असल में आवागमन बोलते हैं। जाग्रत की हालत में धार शरीर के रग-रग और रेशों-रेशों में उतरी रहती है। स्वप्न की हालत में वह ऊपर की ओर खिंचती है और सुषुप्ति में वह ऊपर ठहर जाती है। यह हालतें हर प्राणी में हैं और हर जगह इनकी व्यवस्था दिखाई देती है। यहाँ तक कि वह ईश्वर और ब्रह्म में भी है। अगर यह ईश्वर और ब्रह्म में न होती तो फिर रचना का होना कठिन होता। जिस समय ब्रह्म या ईश्वर

में धार का नीचे के भाग में उतार होता है, तो उसे सृष्टि कहते हैं और जब खिंचाव होता है तो उसको स्थिति यानी हृदय के स्थान में ठहरने का नाम दिया जाता है और जब यह बिल्कुल खिंच जाती है, तब उसी को प्रलय या महाप्रलय बोलते हैं। जो हालतें जीव में है, वही ईश्वर या ब्रह्म में भी है। वहाँ भी धारों का आवागवन है।

यदि यह वास्तव में सत्य है तो फिर ईश्वर या ब्रह्म में भी ऊँचाई निचाई का होना आवश्यक है। जो उनमें है वही हम में भी है। उनमें यह दशायें पूर्ण रूप से हैं और असीमित हैं। हममें अपूर्ण और सीमित हैं। ईश्वर या ब्रह्म को बंधन नहीं है, क्योंकि वह पूर्ण है। हम में बंधन है, क्योंकि हम अपूर्ण हैं। यह भेद है और नीचे से ऊपर की तरफ चढ़ जाना आत्मिक उन्नति है।

वचन 134
तीन मंडल

इस ऊँचाई और निचाई पर विचार करने से तीन मंडल बन जाते हैं और वह सुगमता से समझ में भी आते हैं। ऊँचे मंडल में शक्ति की जड़ है, क्योंकि उसमें शक्ति का सिमटाव अधिक है। नीचे के मंडल में शक्ति की कमी है, क्योंकि उससे शक्ति खिंची हुई है अथवा उसमें शक्ति की कमी है। शरीर के नीचे के मंडल में आत्मिक शक्ति घनी नहीं है, ऊँचे मंडल में वह घनी है और दोनों के बीच आत्मा और भौतिकता की धारों की मिलौनी है। इस तरह तीन मंडल बन गये हैं।

आत्मा ऊँची है, भौतिकता (माद्दा) नीचे है और बीच में हमारा मन है जिसमें दोनों अवस्थायें हैं। वह मन, इस भव सागर का पुल है जिसके इस ओर पार है और उस ओर वार है। जो भौतिकता में हैं वह

आसुरी है। जो अध्यात्म में है वह दैवी है और जो बीच में हैं वह आसुरी और दैविक दोनों ही प्रकार के प्रभावों को अन्दर रखते हैं।

भौतिकता की घनी दशा में अत्यन्त भौतिकता है। आत्मा की घनी अवस्था में अत्यन्त आत्मीयता और मन की घनी हालत में अत्यन्त विक्षप्तता है।

जहाँ तक अध्यात्म के विचार का सम्बन्ध है, वहाँ तक सात्विक अवस्था है और उसमें सतोगुण प्रधान है। जहाँ तक भौतिकता का सम्बन्ध है, वहाँ तक तामसिक अवस्था है और उसमें सतोगुण प्रधान है। और जहाँ तक मानसिक कारोबार का सम्बन्ध है। वहाँ तक राजसिक अवस्था है और उसमें रजोगुण प्रधान है।

तमोगुण में अंधकार है, आलस्य है और जड़ता है। तमोगुण में प्रकाश है, आनन्द है और हलकापन है। रजोगुण में सुखदुख, कर्मधयता और खींचतान है। यही कारण है कि मानसिक कारोबार करने वाले ही को इस संसार में अधिक दुख-सुख के झगड़ों में बँधे रहने का डर है।

अध्यात्म में आनन्द और ज्ञान है, भौतिकता में अज्ञान और अन्धकार है और मानसिक अवस्था चलायमान और डांवाडोल है।

यह तीन गुण हैं और तीनों के तीन मंडल हैं। इन मंडलों की समझ मन और बुद्धि के आधीन है। अगर मन और बुद्धि से काम न लिया जाये तो इनकी समझ नहीं आती। मन से काम लेने की आवश्यकता है। यह अत्यन्त मूल्यावान शस्त्र है। यह उसकी विशेषता है। जिस तरह नदी से पार जाने के लिये पुल की जरूरत है, वैसे ही भव सागर के किनारे पहुँचने के लिए मन के परिश्रम की आवश्यकता है। परन्तु

कठिनाई यह है कि मानसिक कारोबार करने वाले मन से आगे बढ़ने की इच्छा और साहस नहीं करते और उधेड़ बुन में पड़े रहते हैं। न इधर और न उधर। इस कारण से उन्हें दुख उठाने पड़ते हैं। उनकी उपमा उन पथिकों से ही जा सकती है जो पुल पर ठहरे हुये हैं और उसे छोड़ना नहीं चाहते। दुखी तो उनको होना ही है। यदि मानसिक शक्ति प्राप्त है तो उससे काम लो और उसे अपने लाभ का साधन बनाओ। यह क्या कि उसी को उधेड़ बुन में पड़े रहे। रात दिन मानसिक कारोबार और सोच समझ में रहने से आनन्द न मिलेगा।

दुनिया में जितनी विद्यायें, बुद्धि, दर्शन और विज्ञान है यह सब बुद्धि ही की उपज है। इनमें से कोई भी इष्ट पद नहीं है। जहाँ-जहाँ समस्त मानसिक भाव उन्हीं के चारों और चक्कर लगाया करते हैं, वहाँ कष्ट और व्याकुलता होती है। यह कोई नहीं कहता कि इनसे काम न लो। काम तो जरूर लो, लेकिन काम लेकर उस जगह आने का यत्न करो, जहाँ सच्चा और स्वतंत्र आनन्द मिलता है और यह आनन्द आत्मा में है। यदि मन और बुद्धि से काम न लिया जायेगा तो इस आत्मा के आनन्द का तुम को ज्ञान न होगा। इसका अर्थ केवल इतना ही है मगर लोग तो मन और बुद्धि के व्यवहार में पड़े रहते हैं और पड़े हुये व्यर्थ ही परेशानी मोल लेते हैं। शस्त्र तो शस्त्र ही है। शस्त्र को उसकी हैसियत से अधिक विशेषता देना बड़ी भूल है। राधास्वामी मत इस मन की कीमत का पता देकर आत्मा की ओर जाने का आदेश करता है।

आत्मा, मन और माद्दा यह तीनों ही समझने की वस्तु है। पहले माद्दा का विचार करके मन के स्थान पर अपनी बैठक बनाओ। मन को

सोचो फिर मन की सहायता से आत्मा पर विचार करो। तब काम होगा।

मन का नियम है कि जिधर झुकता है उसी का रूप ग्रहण करके उस जैसा बन जाता है। अगर उसने माद्दे की ओर झुकाव किया तो माद्दी हो जाता है और अगर आत्मा की ओर झुक गया तो आत्मिक बन गया और यदि अपने ही पेच ताव में बँधा रहा तो बीच में ही अटका रहा। पहिले इसे आत्मा की ओर आकर्षित करो। आत्मा का ध्यान इसमें भरो, ताकि वह आत्मिक हो जाये और आत्मा के आनन्द को अनुभव करे। यह मन बिल्लोरी शीशे के समान है। जिस रंग के फूल के साथ रखा जायेगा, उसी के रंग को स्वीकार कर लेगा और उसमें जितनी सफाई होगी, उतना ही अधिक रंग उसमें दृश्य गोचर होगा। इस ख्याल से पहिले उसके अन्दर से माद्दियत के रंग को दूर करो। आत्मा का रंग उसमें भरो, ताकि यह आत्मा का अभिमानी हो जाये और आत्मा के आनन्द को प्राप्त कर सके। इसके बाद जब वह अपने अनुभव को बढ़ा ले, फिर तीनों अवस्थाओं को उससे छुड़ा दो ताकि अब वह गुणों के भय से दूर हो जाये। इसे राधास्वामी मत की परिभाषा में चौथा पद या चौथी अवस्था कहते हैं। यही सुरत का शब्द में मिल जाना है और वही इष्ट पद है।

वचन 135
मन से काम लेना

इस मन से अध्यात्मक के कारोबार में काम लेने के कई तरीके हैं, जो राधास्वामी मत के सत्संग में बताये जाते हैं। यह साधारण रूप से तीन अंगी साधन कहलाते हैं, जिनका वर्णन ऊपर आया है। उन्हीं की

फिर विशेष व्याख्या कर दी जाती है ताकि वह अच्छी तरह समझ में आ जायें।

पहला साधन सुमिरन है। सुमिरन याद करने, जपने और बार-बार विचार करने को कहते हैं इसका ध्येय यह है कि मन इष्ट के ध्यान में पड़ा रहे और उठते, बैठते, सोते, जागते उसी विचार को पक्का किया करे। यह जिस तरह होता है उसको भी सुनो। किसी निर्धन को कुछ धन हाथ लग गया। वह चाहे जहाँ रहे, हर समय उसी का ध्यान उसके हृदय में रहता है और उसे एक क्षण के लिये भी नहीं भूलता। किसी पुरुष की आँख किसी स्त्री से लड़ गई। उसे रात दिन उसी की चिन्ता रहती है। जब देखो, वह उसी का ध्यान करता है और एक क्षण के लिये उसे भूलता नहीं। यहाँ तक कि स्वप्न में भी उसका स्वप्न देखा करता है। किसी गाय ने बच्चा दिया। वह चाहे जहाँ चरने को जाये मगर बच्चे के ख्याल को नहीं भूलती। क्वार के महीने में अधिक उम्र वाले साँप ओस पीने के लिये रात के समय मैदान में आते हैं। अपनी मणि को एक जगह निकालकर रख देते हैं और उसके प्रकाश में ओस चाटते हैं। यदि किसी कारण वह मणि खो जाये या उस पर पर्दा पड़ जाये, तो वह उसी समय तड़प कर मर जाते हैं। सम्भव है यह साँप की मणि कल्पित हो, लेकिन इससे शिक्षा लेनी है। कछुआ रेत में अंडे देकर पानी में चला जाता है और उससे कोसों दूर रह कर अपनी मानसिक गर्मी पहुँचाता रहता है। इसी तरह तुम यदि चाहते तो हर समय मन ही मन में सुमिरन कर सकते हो। ऊपर जो उदाहरण दिये गये हैं उनमें ध्यान भी शामिल है। ध्यान उस वस्तु का किया जाता है जिसे किसी ने देख रखा है। राधा स्वामी मत में जो अजपा जाप बताया जाता है वह यों ही अनाप शनाप नहीं बताया जाता किन्तु साधन करने

वाले को पहिले ही समझा दिया जाता है। यह सुमिरन होंठ और जिभ्या बिना हिलाये किसी विशेष केन्द्र पर कराया जाता है और केवल मानसिक जाप से सम्बन्ध रखा जाता है ताकि यह जाप मन को उस केन्द्र पर जमाता जाये और मनुष्य चाहे जिस दशा में रहे उसके साधन में लगा रहे।

दूसरा साधन ध्यान है। ध्यान चित्त की बिखरी हुई वृतियों को समेट कर किसी एक स्थान पर जमा करके किया जाता है। यहाँ भी ठौर ठिकाना बता दिया जाता है और यह कह दिया जाता है कि किसी केन्द्र पर जम कर बैठने से ध्यान को पक्का किया जाये। तुम यदि बाहर कोई बिन्दु बना कर आँखों को बराबर उस पर ठहरा रखो तो स्वयं एकाग्रता आती जायेगी और उसी केन्द पर प्रकाश भी दिखाई देगा, जो तुम्हारे चित्त की एकत्र की हुई शक्ति का प्रकाश है। इस तरह अंतर में जो ध्यान का स्थान बताया जाता है उस पर पुतलियों को उलटने से विशेष प्रकार का प्रकाश दिखाई देगा। बाहर तो तुम्हारी वृत्ति ही प्रकाश करती है। यहाँ स्वयं प्रकाश का सामान मौजूद है, दोनों ओर से तुम्हारे ध्यान को शक्ति मिलेगी। एक तो चित्त की वृतियों के सिमटाव की शक्ति जिसमें साक्षात्कार करने की शक्ति है दूसरे वहाँ का प्राकृतिक प्रकाश, जो पहिले ही से वहाँ मौजूद हैं, परन्तु वहाँ सुप्त अवस्था में पड़ा हुआ है। जब चित्त की गर्मी एकाग्र होकर जमने लगेगी तो यह ग्रंथी गर्मी पाकर खुलने लगेगी। जब यह खुल जायेगी तो अन्तरीय प्रकाश को देखकर तुमको पहिले आनन्द प्राप्त होगा और फिर लगातार साधन करते रहने से वह इतना तीव्र और अधिक हो जायेगा कि नियमित लगातार अभ्यास ही से तुम उसको देख सकोगे अन्यथा आँखों का ठहराना बहुत कठिन होगा क्योंकि यह प्रकाश

कभी-कभी बहुत बढ़ जाता है कि आँखों को न केवल आश्चर्य होता है किन्तु बहुत तिलमिला जाती हैं। इस कारण प्रतिदिन नियत समय पर अभ्यास की हिदायत की जाती है। कुछ दिनों देखने का (दृश्य) आनन्द मिलता रहेगा। तत्पश्चात् लय अवस्था आने लगेगी और समाधि लगने लगेगी और संयम की शक्ति आती जायेगी। यह दृष्टि का साधन ध्यान कहलाता है। आँखों को परवाने की तरह प्रकाश प्रिय बना लो। जिस समय प्रकाश पैदा हो उससे जी न चुराओ किन्तु उसे प्रेम से देखो। यह मालिक की ज्योति है। अगर यह साधन कुछ समय तक कर लो तब उस पर तुमको इतना काबू मिल जायेगा कि चलते फिरते जहाँ जिस समय तुमने आँखों को बंद कर लिया उसी समय प्रकाश प्रगट हो जायेगा और तुम काम करते हुये भी अपनी खुशी से जब चाहोगे एक क्षण के लिये भी आँखों को बन्द करके उसका आनन्द ले सकोगे। इस ध्यान में तुमको क्या करना है या तुम क्या देखोगे? इसका भेद गुरू से तुमको मिलेगा या कोई सत्संगी तुमको बतायेगा। यह गुप्त विद्या है। पुस्तकों में नहीं लिखा जाता। किसी किसी व्यक्ति को इस प्रकाश के प्रकट होने में देर लगती है। यह इसके मन की चंचलताई का दोष है।

तीसरा शब्द का अभ्यास है अपने-अपने विशेष केन्द्र पर सुने शब्द गूँज रहे हैं। यह भी अपने अपने विशेष केन्द्र पर सुने जाते हैं। बिना जाने-बूझे हुये साधन करने का कोई परिणाम नहीं होता और गुमराह होने का भय रहता है। उन शब्दों में विशेष खिंचाव होता है, जो अभ्यासी को अपनी ओर खेंच लेते हैं। जब वह उनके स्थान में पहुँच जाता है, तब इस साधन से भी वही समाधि प्राप्त होती है और अभ्यासी को अपने सिर और पैर का होश नहीं रहता। इस शब्द को

उसी तरह सुनना चाहिये, जिस तरह साँप तोंगी की आवाज को या हिरण बीन की आवाज़ को सुनता है। यह दोनों ही बेसुधि हो जाते हैं और यदि शब्द अभ्यासी में यह दशा नहीं आई तो समझना चाहिये कि अभी उसमें कमी है और धीरे-धीरे दूर होती जायेगी। जल्दी करने की आवश्यकता नहीं है। जल्दी करने से चित में समाहत शक्ति न आयेगी और चंचलता बने हुये काम को बिगाड़ देगी। जो बात सुमिरन और ध्यान के विषय में कही गई है, वही उसमें भी है। इसमें हद दर्जे की समाधि आ जाती हैं और इसी समाधि को प्राप्त करना है।

सुमिरन ऐसा हो जैसे पानी भरने वाली स्त्री सिर पर घड़े पर घड़ा जमाये हुये ठुमक ठुमक कर चलती है, सहेलियों के साथ हँसी दिल्लगी भी करती जाती है, कमर तक को लचका देती है लेकिन उसकी सुरत घड़ों ही में पड़ी रहती है। ऊँचे नीचे पाँव पड़ने पर भी वह नहीं गिरते अथवा जिस तरह खेलने वाला नट रस्सी पर पाँव जमा कर चलता है और गिरता नहीं।

ध्यान में परवाने के जैसे भाव होने चाहियें और यह भाव अपने अन्दर पैदा कर लिये जायें कि आँखों के बन्द करते ही ज्योति स्वयं हमारे अन्दर उसी समय प्रकाशित हो।

शब्द के अभ्यास में यद्यपि प्रारम्भ में बन्द लगाना पड़ता है, लेकिन थोड़े ही महीनों के बाद साधन में यह दशा हो जाती है कि जहाँ एकान्त मिला कि इस जोर से आवाज़ आने लगती है मानो वह बाहर ही बहुत निकट में हो रही है यद्यपि वह अपने अन्तर में गूँज रही है।

वचन 136

अभ्यास में विघ्न

साधन के कई विघ्न होते हैं जो प्रभ्यासी को समझ लेना चाहिये। अगर यह ज्ञात न होंगे तो फिर सम्भव है कि धोखे में पड़कर अपना काम बिगाड़ ले।

पहला विघ्न निद्रा है। भजन करते समय प्राय: नींद आने लगती है क्योंकि चित्त की शान्ति और मन की एकाग्रता से इस निद्रा का आ जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। अभ्यासी नींद को लय अवस्था समझ कर प्रसन्न हो जाता है और अपने साधन को सफल समझ लेता है। यह गलती है। उसे चाहिये कि जब नींद आने लगे तो तुरन्त उठ खड़ा हो। दो चार क्षण चले फिरे और हाथ पाँव और मुँह आँख धोकर तब फिर अभ्यास में आये।

दूसरा विघ्न आलस्य है। हाथ पाँव एक तरह पर शिथिल हो जाते हैं। काम करने को जी नहीं चाहता। इसका भी उपाय वही है कि चले फिरे।

तीसरा विघ्न प्रमाद है। अभ्यासी में किसी प्रकार का घमंड नहीं होना चाहिये और न उसे अपनी सफलता पर गर्व करना चाहिये अन्यथा उन्नति रुक जायेगी।

चौथा विघ्न सिद्धि शक्ति का आना है। सारी शक्तियाँ मन की एकाग्रता से आती हैं। यह समझकर उसमें अगर किसी प्रकार का

चमत्कार आने लगे, तो उसकी ओर से चित्त को हटा रखे। वह माया के समान है और भरमाने और भुलाने वाले हैं।

पाँचवा विघ्न अभ्यास की सफलता का भेद दूसरों को जताना है। इसकी बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। यह एक ऐसी बात है जिसकी खबर दूसरों को नहीं है। अगर तुमने किसी से अपना हाल कहा और उसे विश्वास न आया तो वह तुमको धाखेबाज़, बुद्धिहीन गुमराह (पथभ्रष्ट) समझेगा और उसका ऐसा सोचना तुम्हारे विश्वास को हानि पहुँचायेगा। उसकी तरह तुम भी शंका और संदेह में पड़कर व्यर्थ में अपनी हानि कर लोगे। वह क्या जानता है कि तुम पर क्या हालत गुजर रही है। दूसरे अगर उसे विश्वास भी है तो तब भी स्वयं नर्बल हो जाओगे और प्राप्त की हुई शक्ति जिभ्या से निकाल कर नष्ट हो जायेगी। किसी बाहर मुखी आदमी से अन्तर मुखी बातों के कहने की आवश्यकता क्या है? तुम साधन कर रहे हो। वह तो नहीं कर रहा है तुम में संयम होना चाहिये। जिस तरह खाना खाकर उसे पचा लेते हो, उसी तरह इसे भी पचाते चलो ताकि शक्ति आती चले और तुम बलवान हो जाओ।

इसी प्रकार और भी कई विघ्न बताये जा सकते हैं मगर विषय लम्बा नहीं करना है। अभ्यासी अगर अपने निजी अनुभव से लाभ प्राप्त कर ले सँभला हुआ रहे तो उसको लाभ होगा और यदि व्यर्थ बातों में पड़ गया तो फिर वह अपनी हानि आप ही करेगा। चाहे फिर अभ्यास करके सँभल जाये मगर पछड़ जायेगा। और भी इसी तरह समझ लो।

योग साधन के सम्बन्ध में नाना प्रकार के लाभदायक अनुभव

वचन 137

रचना

अभ्यास में सुरत का सिमिटाव उसी तरह हुआ करता है जिस तरह मरते समय शरीर के रग-रग और रेशे-रेशे से जीवन की धार खिंच कर ऊपर की तरफ चली जाती है। धार का सिमिटाव मृत्यु की दशा के समतुल्य है तो धार का फैलाव भी रचना के समतुल्य होना चाहिये और वह ऐसा ही है।

ऊपर के वचनों में दूसरे प्रकार से बताया गया है कि मरना-जीना और सृष्टि और प्रलय उसी तरह होता है, जिस तरह प्राणी की साँस आया जाया करती है। साँस का आना जीवन और साँस का जाना मृत्यु है। यह रचना का प्राकृतिक कर्म है जो हर मण्डल के प्राणी में मौजूद है और ब्रह्म तक की यही दशा है। वृक्ष, कंकड़ पत्थर, वायु, जल सबकी साँस में सिमिटाव और फैलाव हुआ करता है। यह साधारण सी बात है। और इसी साधारण बात के वर्गमूल में कल्प-कल्पान्तर, युग-युगान्तर, मन्वन्तर और हमारे जीवन के वर्ष, महीने, दिन और पल पल शामिल हैं। जीवन और कुछ नहीं है केवल बाहर की तरफ फैलने वाली एक लम्बी साँस है जिसमें अनगिनत वर्ष, दिन और पलों की साँसें शामिल हैं। मृत्यु और कुछ नहीं है। वह केवल बाहर की

ओर से मुड़कर अन्दर की ओर सिमिटने वाली एक लम्बी साँस है जिसमें अनगिनत वर्ष, दिन और पलों की साँसें शामिल हैं।

विचार करने पर यह ऐसा ही समझ में आयेगा और उसके ऐसी समझ आने से बहुत सी बातों को समझने में सुगमता होगी और मौत का भय हृदय से किसी सीमा तक जाता रहेगा। हमारा उद्देश्य न जीवन है न मृत्यु है। हमारा उद्देश्य न संसार का दुख है न सुख है और न संसार का ज्ञान है, न अज्ञान है। बाल-बच्चे, आदर-अनादर, उन्नति-अवनति, यह जीवन मार्ग के सामान कहे जा सकते हैं जो अनुभव करने में सहायक होते हैं लेकिन इनमें एक वस्तु भी हमारी इष्ट वस्तु नहीं है। वह बना लिये जा सकते हैं, इस वजह से दुख और सुख दोनों ही उनके साथ लगे रहते हैं। गाड़ी के दो पहिये आगे-पीछे फिरते हुये चले जा रहे हैं। पहियों के आगे-पीछे की गति कौन देखा करे। वह बढ़ते चले जा रहे है। केवल उसी बढ़ाव की ओर दृष्टि रहती है और हमारे जीवन में भी ऐसा ही होना चाहिये।

जन्म-मरण, सोना-जागना, चेत और अचेतपना, यह सब उसी कुदरती साँस के आने जाने के अनगिनत प्रतिविम्बित रूप हैं जो हर जगह गहरी दृष्टि से देखने पर देखे जा सकते हैं।

जब यह दशा है तो समझ लेना चाहिये कि रचना भी बिलकुल इसी तरह बनती बिगड़ती है।

हमारे सिर की ओर से धार उतर कर शरीर (पिंड) में फैल गई और हम जाग्रत का व्यौहार करने लगे। शरीर (पिंड) से धार सिमिट कर फिर सिर की ओर चली गई और हमारे जाग्रत का व्यौहार बंद हो गया। यह हमारे जीवन का दैनिक प्राकृतिक कर्म है। इसी तरह जब इस रचना में उसके सिर की ओर से धार उतर कर ब्रह्माण्ड में फैल

जाती है, तो ब्रह्माण्ड का खेल होने लगता है और जब वह सिमिट जाती है तो यह खेल बन्द हो जाता है मगर यह बन्द होना सदा के लिए नहीं होता। प्रवाह के रूप में उसका सिलसिला साँस के आने जाने के रूप में बराबर इसी तरह चालू रहता है। जिस तरह हम अपने जीवन में नित्य प्रति जागते सोते तथा सौ सौ बरस बाद जन्मते और मरते हैं। इसके सिवा यह खेल और कुछ भी नहीं है। इस विषय का अन्तिम सार या परिणाम यही है। अब उसको चाहे तुम जितना लम्बा करना चाहो करो और उस पर तर्क वितर्क करते रहो। उसमें पड़ने की आवश्यकता यहाँ नहीं है, क्योंकि इसके सम्बन्ध की बातों को यदि फैलाया जाय तो बहुत बढ़ जायेगी और कहीं ठहराव की सूरत दिखाई न देगी। यह विज्ञान और दर्शन केवल हमारी हीबुद्धि की छाया है। छाया के पीछे दौड़ो तो वह भी दौड़ती चलेगी। तुम खड़े हो जाओ तो वह भी खड़ी हो जायेगी। तुम मुड़ चलो तो वह भी मुड़ चलेगी। छाया तो छाया ही है। छाया को किसने आज तक पकड़ा है। हाँ छाया से विचारों का फैलाव होता है। उसको समय-समय पर जानते हुये उससे काम लिया जा सकता है मगर छाया छाया ही है। इससे अधिक उसका मूल्य नहीं है।

राधास्वामी मत इस सृष्टि से केवल सिद्धान्त को समझा कर तर्क वितर्क को छोड़ देता है। जिसका जी चाहे वह इनमें दिलचस्पी ले। किसी को रोकने का उद्देश्य नहीं है। हाँ, जो लोग अध्यात्म के प्रेमी हैं, उनको चेता दिया जाता है कि अगर इसी जीवन में तुम साक्षात्कार करना चाहते हो तो दर्शनशास्त्र के झगड़े में न पड़ो। इससे बहक जाओगे। शान्ति नहीं मिलेगी और करोड़ों में से केवल दो चार इसके सच्चे अधिकारी निकलते हैं। उनको अपना काम करने दो। वह भी

रचना की जंजीर में जरूरी कड़ी है। केवल अपना काम बनाओ और उनके अनुभवों का सार लेकर संत मत के उद्देश्य की ओर ध्यान दो; क्योंकि यह संत मत स्वयं इन दर्शन और विज्ञान की जान है। इसकी समझ भी हर व्यक्ति को नहीं है। जिन्होंने सत्संग करके सार को समझ लिया है केवल वही लोग इसके सही और सच्चा स्वीकार करेंगे।

रचना की केवल यह स्थिति है।

वचन 138

रचना (लगातार)

रचना किस तरह होती है यह लगभग बहुत से आदमी जानना चाहते हैं। उनकी यह इच्छा बुरी नहीं है। अभ्यास करने वालों को यदि यह किसी हद तक समझ में आ जाय तो उनके साधन में सहायक भी हो सकती है।

जीवन मृत्यु के विपरीत है और रचना प्रलय के विपरीत है। मृत्यु और जीवन तथा सृष्टि और प्रलय दोनों ही एक दूसरे के विपरीत हैं। यदि मृत्यु और प्रलय की घटनाओं को ध्यान से देखा जाये तो जीवन और सृष्टि के भेद का पता मिलना सुगम हो जाता है।

जीवन कई तरह का है और रचना भी कई तरह की है। मृत्यु भी कई तरह की है और प्रलय भी अनेक प्रकार की है।

जाग्रत जीवन और जाग्रत प्रलय हमारा रोजाना का व्यौहार है। जब हम जागते हैं तो यह रोजाना का जीवन है। जब हम सोते हैं तो यह जीवन की जाग्रत अवस्था की मृत्यु है।

सौ बरस जीकर हम मरते हैं। सौ बरस जीना और सौ बरस जी कर मर जाना शरीर यानी पिंड की प्रलय है। एक प्रलय यह हुई।

ब्रह्मा के रोजाना जीवन के अंदर मालूम नहीं हमारे कितने जन्म-मरण और सृष्टि प्रलय हुआ करते हैं। जब ब्रह्मा के सौ बरस के जीवन के बाद उसका हमारे शरीर जैसा हाल हो जाता है तो उसे ब्रह्माण्ड की प्रलय कहते हैं। यह दूसरे शरीर की प्रलय है और भी इसी प्रकार।

पहिले पिंड प्रलय का हाल राधास्वामी मत की पवित्र वाणी (सार वचन छंद-बंद-हाल उत्पत्ति और प्रलय) की शिक्षा के अनुसार सुनो-

काल किया जब तन परवेश। जीव चला तज यह परदेश॥
मूल द्वारा पृथ्वी का बास। खिंचा वहाँ से स्वाँस और भास॥
खिंचकर आया इन्द्री द्वार। वहाँ से पहुँचा नाभि झँझार॥
नाभी से खिंच हिरदे आया। हिरदे से फिर कंठ समाया॥
पृथ्वी-जल-अग्नि और पौन। कंठ मांहिं रुँधन लगी होन॥
चारों तत्त्व भास और स्वाँस। यहाँ से चले खिंचे आकाश॥
दो दल कमल काल के देश। कर्म अनुसार खान परवेस॥
इस विधि काल जीव को खाय। जन्मे मरे बहुत दुख पाय॥
सत्गुरु बिन नहिं लगे ठिकाना। ता ते सत्गुरु शरण समाना॥

जब कोई मरने लगे तो उसकी दशा को देखो और यह रहस्य हल हो जायेगा। धार ऊपर से आकर पहले गुदा चक्र में ठहरी थी। गुदा चक्र स्थूल पृथ्वी का इस पिंड (शरीर) में स्थान है। इसलिये मृत्यु की कारवाई यहाँ से शुरू होती है। मरते समय गुदा से पृथ्वी का तत्व खिंचकर इन्द्रिय चक्र पर आकर जल में लय हो जाता है, क्योंकि इन्द्रिय का स्थान जल तत्व की जगह है। जल से पृथ्वी की उत्पत्ति हुई थी और इस कारण से मरते समय पृथ्वी को जल में आकर लय होना पड़ता है। यह जल तत्व खिंचा और खिंचकर नाभि के स्थल पर

आकर अग्नि में लय हुआ। जल की उत्पत्ति अग्नि से हुई थी। इस कारण उसका उसमें आकर लय होना प्राकृतिक कर्म है। अब इस अग्नि तत्व का खिंचाव वायु में हुआ और वह हृदय चक्र के वायु तत्व में आकर लय हो गया, क्योंकि अग्नि की उत्पत्ति वायु ही से हुई थी। हर वस्तु अपने असल की ओर मरते समय खींचती है। हृदय चक्र वायु तत्व का स्थान है। यहाँ तक तो चार तत्व का खिंचाव हुआ। अब यह वायु तत्व हृदय चक्र को छोड़ कर कंठ चक्कर में आया। कंठ चक्र आकाश का स्थान है। आकाश ही से वायु पैदा हुई थी। वायु का आकाश में समाना इस दृष्टि से आवश्यक था।

नीचे के चार तत्व आकाश से मिल कर एक हो गये। अब वह आकाश के रूप हो गये। अपने-अपने नाम व रूप को छोड़ कर अब वह उस आकाश के नाम और रूप में मिल गए। यह पिंड के मरते समय उनकी दशा होती है। यह आकाश तत्व फिर अपनी बारी पर खिंचकर काल तत्व के स्थान पर पहुँचा, जो दो दल कमल यानी पुरुष और प्रकृति की मिली-जुली सूरत है। यहाँ आकर फिर जीव को अपने कर्म और वासनाओं के अनुसार इस मृतक शरीर को छोड़ कर नई योनि में आने की आवश्यकता हुई, क्योंकि अंत मती सो गती। जहाँ आशा तहाँ बासा। जीव ने जैसे-जैसे कर्म किये थे और वासना उसकी प्रबल हुई थी, उसी तरह के नये शरीर में जाना उसके लिये आवश्यक है। वासना ही जन्म का कारण होती है और योनी में लाती है। जैसी वासना होगी वैसी ही योनि मिलेगी और यह सिलसिला बराबर उस समय तक चलता रहेगा, जब तक गुरु का सत्संग करके जीव वासना के मैल को अपने अंदर से नहीं निकालेगा। अभ्यास और सत्संग का यही उद्देश्य है। इसके सिवा और कोई उद्देश्य नहीं है।

पिंड की मृत्यु का नकशा दिखा दिया गया। इसके सच होने में किसी को क्या आपत्ति हो सकती है। अब इसी को अगर उलट कर देखो तो जीव की पिंड रचना का भेद तुम्हारी समझ में आ जाये।

काल में समाया हुआ जीव अपनी वासना को अपने में लिये हुये था। उसके आधीन वह पहिले उससे निकल कर इस पिंड में आया और पिंड के आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी के स्थानों पर अपना आसन जमाया और इस पिंजरे में आकर बन्द हो गया। वह जिस तरह आया था उसी तरह उसको इससे निकलना पड़ता है और उसी तरह कर्म के नियम के आधीन उस समय तक वह बराबर आता जाता रहेगा, जब तक एक वासना भी उसके अन्दर रहती है।

यह मृत्यु पिंड प्रलय कहलाती है और यह बार-बार सौ-सौ बरस के बाद आती रहती है। कभी-कभी आयु कम भी हुआ करती है। यह उसके कर्म और वासना की वजह से है जिसकी व्याख्या लम्बी है। कोई आदमी कोई प्रचल वासना लाता है। उसकी आयु सौ बरस की होती है। किसी की वासना कमजोर होती है। वह पैदा होते ही विशेष मंडल के कर्म और वासना को भोग कर जल्द मर जाता है। फिर दूसरे कर्म और दूसरी वासनाओं के आधीन दूसरा शरीर धारण करता है। और भी इसी प्रकार समझ लो।

वचन 139

रचना (लगातार)

पिंड प्रलय के समझ लेने पर ब्रह्माण्ड प्रलय की अच्छी तरह से समझ आयेगी। यहाँ हम फिर राधास्वामी मत की वाणी उद्घृत करते हैं, क्योंकि उसके शब्द अधिक स्पष्ट और प्रभावशाली हैं–

अब प्रलय का भाखुं लेखा। जस सिमिटाव जगत को देखा॥
काल आय जीवों को ग्रासा। जीव समाने काल के स्वाँसा॥
देही कारज पृथ्वी होई। पृथ्वी ने गिरसी पुनि सोई॥
पृथ्वी घोली जलने आय। जल को सोखा अगनी धाय॥
अगनी मिली पवन के रूप। पचन हुई आकाश स्वरूप॥
आकास समाना माया माहिं। तुम रूपा दीखे कुछ नाहिं॥
माया रिली ब्रह्म में जाय। शक्ति शिव में गई समाय॥
शिव पहुंचे ओंकार मंझार। ओंकार समाने सुन्न के द्वार॥
सुन्न किया महासुन्न निवास। भँवर गुफा महा सुन्न का वास॥
यहाँ तक प्रलय कभि कभि होई। सत्तलोक का द्वारा सोई॥
प्रलय गति आगे नहिं भाई। सत्तलोक में कभी न जाई॥
काल त्रिलोकी कीन्हीं नास। महा काल पुनि काल गिरास॥
महाकाल पहुँचा सत द्वार। आगे गति नहिं ठिठका चार॥

यह ब्रह्माण्ड प्रलय का नकशा है, जो पिंड प्रलय से बहुत मिलता है। इस वाणी की संक्षिप्त व्याख्या भी इतनी लम्बी हो जायेगी कि

अगर कोई इस विषय पर लिखना चाहे तो पुस्तक की पुस्तक लिख सकता है। पृथ्वी का प्राकट्य चूँकि इतना है कि प्रलय का अनुमान जगत के सिमिटाव की ओर देखकर लगाया जा सकता है। पृथ्वी का प्राकट्य चूँकि जीवों की देह की दृष्टि से हुआ था और यह देह पृथ्वी ही से बना हुआ है। यह पृथ्वी में मिल गया। पृथ्वी पानी की सूरत में बदल गई। पृथ्वी का पानी की सूरत में बदल जाना जल प्रलय है। जब जल प्रलय आ जाता है, उस समय दुनिया में जल ही जल हो जाता है और मिट्टी की तमाम शकलें बिगड़ बिगड़ कर पानी बन जाती हैं। फिर इस पानी को अग्नि सोख लेती है और पानी नष्ट होकर अग्नि ही अग्नि रह जाती है। यह अग्नि प्रलय है। अग्नि-प्रलय में पृथ्वी और जल का कहीं नामो निशान तक नहीं रहता। फिर अग्नि अपनी बारी पर वायु में बदल जाती है। यह वायु प्रलय है।

वायु प्रलय में पृथ्वी, जल और अग्नि में से किसी का भी नामो निशान नहीं रहता। तब यह वायु भी आकाश में लय होकर उसका रूप बन जाती है और चारों तत्वों में से एक का भी पता नहीं रहता। यह आकाश प्रलय है। यह आकाश भी चूँकि तत्व है और माया से पैदा हुआ है, यह माया में समा जाता है। और माया अंधकार की तरह छाई रहती है। अंधकर अंधकार को इस प्रकार ढक लेता है कि कुछ दिखाई नहीं देता। दिखाई भी कैसे देता? देखने के सामान तो पहिले ही से नाश हो जाते हैं। इसका नाम माया प्रलय है। फिर यह माया ब्रह्म में समा जाती है। ज्योति और निरंजन मिलकर एक हो जाते हैं और ओंकार कहलाते हैं। ओंकार सुन्न और महासुन्न की दशा को प्राप्त होकर भँवर गुफा तक आकर ठिठक जाता है, क्योंकि यहाँ ही तक नाश और परिवर्तन सम्भव है। आगे सत्लोक में जो सत् ही सत् है

प्रलय नहीं होती। सत् जैसा है वैसा रहता है। उसी तरह वह अपनी दशा में रहता है और यही इष्ट पद है।

जिस तरह प्रलय होती है, उसी तरह अगर उसकी धार को दूसरी सूरत में देखना शुरू करो तो रचना की सूरत का दृश्य बुद्धि के सामने स्वयं आ जाता है।

इस पर विचार करने से यह मालूम होता है कि पहले सत ही था। इस सत् से महाकाल और काल पैदा हुए। उन्हीं से माया प्रगट हुई। माया ने आकाश पैदा किया। आकाश से वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी की उत्पत्ति हुई और फिर पिंड की रचना हुई, जिसमें जीव बँध गया और वासना वश उसी में फँसा हुआ मरता खपता रहता है।

वचन 140

सुरत शब्द का मार्ग

बिना सत्संग किये हुये फिर भी ज्यों का त्यों इन बातों का बाह्य ज्ञान भी नहीं होता। आपत्ति पर आपत्ति की जा सकती है क्योंकि इस तरह समझना कि जब आकाश नहीं रहा, माया नहीं रही, ओंकार पद का भी अभाव हो गया तो फिर किसी को आगे का ज्ञान कैसे हो सकता है।

बिना गहरी समझ के यह बिल्कुल असम्भव ज्ञात होता है और ऐसा कहना और ख्याल करना कोई आश्चर्य की बात नहीं है परन्तु यह ज्ञान हो जाता है और सुरत शब्द का अभ्यास करने से सुरत इनका साक्षात्कार करती हुई जाती है वरणा किस तरह ज्ञान होता! ऋषियों ने भी तो उपनिषदों में इसी प्रकार की वाणियाँ कही हैं। "अँधकार ने

अँधकार को ढक रखा था। न कोई उसे सत कह सकता था और न असत आदि आदि।" यह अनुभव का विषय है और जब तक आदमी साधन सम्पन्न और अनुभव सम्पन्न न हो जाये तब तक वास्तव में इन बातों को समझना कठिन ही नहीं किन्तु असम्भव है। इस लिये जीवों को साधन करने का आदेश किया गया। साधन की विधि वाणी में इस तरह आती है।

सतगुरु कहें भेद दरसाई। मारग घर का देयँ बुझाई॥
प्रथम शरण गहो सत् गुरु की। दुतिये बाड़[1] धरो सत्संग की॥
गुरू जो भेद बतावें तुमको। धारो वचन कमाओ उनको॥
तन मन इन्द्री सुरत समेटो। चढ़ अकास शब्द गुरु भेंटो॥
सुनो नित्य तुम अनहद वाणी। देखो अद्भुत जोति निशानी॥
जोति फाड़ फिर सुन्न समाओ। सुषमन होय बंक में जाओ॥
बंक पार त्रिकुटी सुन गीत। काल कर्म दोऊ लीन्हे जीत॥
सुन्न शिखर चढ़ी सुरत धूम। मान सरोवर पहुँची झूम॥
महा सुन्न जहाँ अति अँधियार। गुप्त चार धुन बाणी सार॥
भँवर गुफा जाय लीन्ही चीन्ह। आगे सत्त लोक चढ़ लीन्ह॥
अलख अगम को जाकर परसा। शब्द पकड़ मन सूरत सरसा॥
राधास्वामी नगर निहारा। देखा जाय अगर उजियारा॥

संतन का मत गूढ़, बिना संत को जानई।
राधास्वामी किया ज़हरू, माने सतसंगी कोई॥

---

1. ओट।

वचन 141

रचना के स्थान

जिन स्थानों का वचन 140 में वर्णन आया है वह ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड के परे दयाल देश के हैं। जिस तरह पिंड में षट चक्र हैं, वैसे ही काल देश यानी ब्रह्माण्ड और दयाल देश यानी शुद्ध आत्मिक मण्डल में भी हैं। ब्रह्माण्ड में भी छ: चक्र हैं और दयाल देश में भी। और इनकी रचना में वही व्यापक सिद्धान्त प्रभाव डालता है जो इस माया देश में है।

समझाने बुझाने की दृष्टि से हम फिर एक बार विभिन्न प्रकार से उसी बात को उदाहरण के रूप में यहाँ वर्णन करते हैं जैसे कि पहिले भी बता चुके हैं।

इस तरह समझो कि आकाश में क्षोभ हुआ और क्षोभ होने की वजह से आकाश ने अपने अंदर का वह भाग जिसमें स्थूलता थी मथकर फैंक दिया, जो वायु का मंडल बन गया और जो हिस्सा बिलकुल सूक्ष्म था वह शुद्ध आकाश बना रहा। इन दोनों मण्डलों में स्थूलता और सूक्ष्मता के होते हुये भी परस्पर मेल है और वायु मंडल में जिस भाग को आकाश की सूक्ष्मता के साथ सम्बन्ध है, वह उससे निकट है और दूसरे भाग धीरे-धीरे दूर होते गये हैं। इस तरह वायु आकाश से गुथा हुआ भी रह गया। फिर वायु के मथन से उसका स्थूल

भाग जो फैंका गया वह अग्नि बना और अग्नि से जल और जल से पृथ्वी इसी तरह बनती है। वह आकाश ही है जो पृथ्वी है मगर पृथ्वी आकाश का महा स्थूल रूप है। यह पाँचों मंडल अलग-अलग होते हुये भी परस्पर गुथे रहते हैं। इनमें समेटने और फैंकने की शक्ति उसी तरह काम करती रहती है, जिस तरह तुम अपने भोजन के मामले में आवश्यक और सूक्ष्म भाग शरीर का अंश बनाते रहते हो। जहाँ कहीं सृष्टि की व्यवस्था में जिस कारोबार को तुम देखोगे, यह सूक्ष्म और स्थूल श्रेणी, उनकी सूक्ष्मता और स्थूलता के कारोबार और कारोबार के सिलसिले में समेटना और बाहर फेंकने का यही नियम काम करता हुआ दिखाई देगा। हर वस्तु बदल कर बेहतर बनना चाहती है। बेहतर यानी सूक्ष्म बनकर वह ऊपर खिंचती है। उसका बदतर यानी स्थूल भाग स्वयं नीचे गिरता रहता है। और जब तक कि प्रलय नहीं आ जाती यह बराबर जारी रहता है। इसी के व्यवहार में विभिन्नता की सूरतें दृष्टि में आया करती हैं।

जो बात तत्वों की बाबत कही गई है, वह रचना के मंडलों के सम्बन्ध में भी समझना चाहिये।

आदि में (जिसे हम आदि भी नहीं कह सकते) क्षोभ हुआ। क्षोभ के होते ही जो शुद्ध और सूक्ष्म आत्म तत्व था, वह तो आत्मिक मंडल में रह गया और सूक्ष्म आत्म तत्व था, वह तो आत्मिक मंडल में रह गया और जिसमें स्थूलता थी वह मथ कर नीचे उतरा और काल देश यानी ब्रह्माण्ड में ठहरा। फिर ब्रह्माण्ड में उसी क्षोभ के प्रभाव से अपनी बारी पर उसने जो स्थूल भाग फैंका तो वह नीचे आकर ठहरा और उसी से वह माया देश बन गया, जो अत्यन्त स्थूल है। आत्मिक मंडल

(दयाल देश) अत्यन्त सूक्ष्म, ब्रह्माण्ड (कालदेश) सूक्ष्मता और सूक्ष्म स्थूलता की मिलौनी है और माया देश बिल्कुल ही स्थूल है।

चूँकि यह एक प्रकार से रचना का व्यापक नियम है, वह दुनिया के हर कारोबार में भी मौजूद है। जाति, पाति, वर्णाश्रम आदि तक में यही दिखाई देता है। ऊँचे वर्ण से नीचे वर्ण पैदा होते हैं और फिर इन ही में से जो लोग सूक्ष्म बनते हैं वह ऊपर की ओर खिंचकर बाहर निकालते रहते हैं। जो वस्तु जिस मण्डल के अनुकूल है, वह उसी में रखी जाती है और जो उसके अनुकूल नहीं होती वह या तो ऊँचे चढ़ जाती हैं या स्थूलता की वजह से नीचे गिरती पड़ती रहती है।

अब यह विषय कुछ अंश में स्पष्ट हो गया और उसके भली प्रकार समझ लेने से यह बात समझ में बैठ जायेगी कि जो प्राणी सूक्ष्म हो जाते हैं और जिनमें अधिक आत्मीयता आ जाती है, उनके लिये स्थूल मंडल में स्थान नहीं रहता। उन्हें आत्मिक मंडल (दयाल देश) की ओर जाना आवश्यक है और जो प्राणी स्थूल हैं वह आत्मिक मंडल में नहीं रह सकते। उनका नीचे गिरना जरूरी है।

स्थूल जगत में स्थूल स्वभाव वालों का स्थान है। आत्मिक देश में आत्मिक स्वभाव वाले रहते हैं। आत्मिक और स्थूलता का यह चक्र हर समय चलता रहता है। जिसका नक्शा हमारे जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति तक में और हमारे हर कारोबार में दिखाई देता है।

(1) शुद्ध आत्मिक (2) आत्मिक और स्थूल और (3) स्थूल, यह तीन रचना के मंडल हैं। लेकिन स्थूल मंडल को आत्मिकता से बिल्कुल ही खाली भी न समझ लेना चाहिये, क्योंकि यदि आत्मा न हो तो फिर कारोबार का चलना असम्भव होता है। हाँ, इसमें

आत्मिकता अत्यन्त थोड़ी है और ऊँचे के मंडल में वह श्रेणी व श्रेणी घनी है। यह उन में अंतर है। आत्मा तीनों ही में है। पहिले में तो वह शुद्ध हैं। दूसरे में सूक्ष्म मन और माया के साथ मिली हुई है और तीसरे में वह स्थूल मन और स्थूल माया के साथ मिली हुई है।

आत्मिक धार का कमी पेशी के साथ इनमें आना जाना रहता है। जो लोग आत्मिक साधन करके आत्मा की धार के साथ समता करते रहते हैं, वह तो उन्नति कर जाते हैं और ऊँचे चढ़ जाते हैं और जो स्थूल पदार्थ के साथ एकता करते हैं वह अवनति की हालत में पड़े रहते हैं। आत्मा के प्रेमी आत्मिक मंडल में स्थान पाते हैं और स्थूल पदार्थ के प्रेमी स्थूल मंडल में। इसमें तनिक भी संदेह नहीं। विद्या और बुद्धि के अभ्यास से जीवों की अवस्था में परिवर्तन को हर एक जानता है। विद्या और बुद्धि के अभ्यासी साधारण लोगों से कहीं अच्छे होते हैं और साधारण लोगों के स्थान में नहीं रहते या रह सकते हैं, क्योंकि इनके भाव उनसे भिन्न हो जाते हैं। इसी प्रकार आत्म ज्ञान के साधक इन विद्या और बुद्धि वाले से अधिक सूक्ष्म अवस्था प्राप्त कर लेते हैं और इनसे भिन्न हो जाते हैं।

सारी बात अभ्यास पर निर्भर है। शारीरिक अभ्यास करने वाला पहलवान बन कर सैंकड़ों और हजारों से ऊँचा हो जाता है। विद्या और बुद्धि के कारोबार का अभ्यास करने वाला लाखों में उच्च पदवी प्राप्त करता है और आत्म अभ्यासी करोड़ों से ऊँचा हो जाता है और उसके काम का सिलसिला इस दुनिया में भी पहलवान या विद्वानों से अधिक समय तक रहता है, क्योंकि नित्यता केवल आत्मा में है। शरीर या बुद्धि की शक्तियों में नित्यता नहीं है। शरीर बदलता रहता है, बुद्धि भी बदलती रहती है परन्तु आत्मा में कोई परिवर्तन नहीं होता। मनुष्य की

बुद्धि के कारोबार बिगड़ते रहते हैं, राज्य नष्ट होते रहते हैं परन्तु इनकी अपेक्षा में आत्मिक गुरुओं का काम दुनिया में अधिक समय तक स्थिर रहता है और उनके झंडे के नीचे करोड़ों और अरबों आदमियों को शान्ति मिलती रहती है। उनके शरीर छोड़ जाने पर भी लोग रात दिन उनका नाम लिया करते क्योंकि रूहानियत (आत्मीयता) में विशेष प्रकार की बरकत रहती है।

दुनिया में शारीरिक शक्ति के अभ्यास के लिये अखाड़े हैं विद्या और बुद्धि के विद्यालय भी हैं। इसके सिवा जीवन के कारोबार में भी शरीर और विद्या बुद्धि का अभ्यास होता रहता है। लेकिन आत्मिक अभ्यास का अखाड़ा कहीं दिखाई नहीं आता। राधास्वामी मत ने इस कमी को पूरी करने के लिये सत्संग और सुरत शब्द योग का अभ्यास जारी किया ताकि जिनको प्रेम हो, वह इधर आकर्षित होकर आत्मिक जीवन के साधक बनें।

यह साधन कहीं बाहर नहीं कराया जाता किन्तु अपने शरीर ही के अंदर कराया जाता है। गुरू इसी शरीर में आत्मिक स्थानों का पता देकर और उनमें चढ़ाई करने का भेद बता कर अभ्यास कराते हैं जिसमें उनकी अवस्था में परिवर्तन आ जाता है।

जो व्यक्ति जिस स्थान का साधन करके उसे जीत लेता है वह फिर वहाँ नहीं रह सकता और आगे बढ़ने की उसे आवश्यकता होती है और जब तक अंतिम स्थान को तय नहीं कर लेता, तब तक वह बराबर उन्नति करता जाता है।

वचन 142

स्थानों का ज्ञान

हमको जो कुछ ज्ञान इन स्थानों का होता है अथवा हुआ है या होगा, वह केवल परिणाम को देखकर कारण तक पहुँचने का ज्ञान है। असलियत में हम इसे पूर्ण (अखंड) नहीं कह सकते। ज्ञान पूर्ण (अखंड) तो सत् पुरुष राधास्वामी का नाम है। इस ज्ञान के सम्बन्ध में इन्द्रिय ज्ञान, अनुमान ज्ञान या शब्द ज्ञान के विषय में हमने पहिले वर्णन कर दिया है। यह सारा इन्द्रिय ज्ञान परिणामों ही को देख कर, मानकर या सुनकर होता है। फिर भी यह कहना कि यह बिल्कुल ही विश्वास योग्य नहीं है, ठीक न होगा। लोग बिना समझे बूझे इस जगत को मिथ्या और उसके ज्ञान को मिथ्या कहते हैं। यदि यह सब मिथ्या ही है तो क्या ऐसे आदमियों का मिथ्या-मिथ्या कहते रहना स्वयं मिथ्या नहीं होगा और मिथ्या कहने वाला मिथ्या न समझा जायेगा। बात कुछ और है और लोग समझते कुछ और हैं। जिन आचार्यों ने इस जगत और इस के ज्ञान को मिथ्या कहा था, उनका यह कहना पूर्ण ज्ञान ही दृष्टि से था। जिन्होंने इस जगत को मिथ्या बताया था, उनका मंतव्य केवल इस प्रकार था कि यह जगत, यह माया, यह त्रिगुणात्मक व्यौहार, यह तत्व आदि अपने आप ही अपना स्वतंत्र अस्तित्व नहीं रखते बल्कि उनका अस्तित्व पूर्ण अस्तित्व के आधीन है। तुममें और तुम्हारी शक्ति में भी तो अंतर है परन्तु तुम्हारी शक्ति तुम्हारे आधार पर

है। तुम्हारी शक्ति तुमसे पृथक नहीं है। शक्ति को तुमसे पृथक मानना भूल है और यह पृथक मानना ही मिथ्या कहा गया है। इसके सिवा इस कहने का और कुछ तात्पर्य नहीं था, लेकिन मिथ्या कहने वाले के असली मन्तव्य को न समझ कर अकारण ही मिथ्या की हाँक लगा दी और अपने-आपको अधिकतर मिथ्यावादी बना दिया, जो स्पष्ट रूप में गलती है।

राधास्वामी मत इस गलती से जानकारी कराते हुये आदेश करता है कि तुम इस भूल में न पड़ो। मिथ्या 'नहीं' का शब्द है। 'नहीं' को धारण करना भूल है। जो वस्तु इस समय तुम्हारी दृष्टि के सामने है, उस पर विचार करते चलो कि यह किसी किसी कारण का फल है। फल को देखो ताकि कारण तक पहुँचने और उसके प्राप्त करने का अवसर मिले, जब कारण तक पहुँच हो जायेगी तो फल की ओर से आप ही आप ध्यान हटा हुआ होगा। फिर उसके मिथ्या कहने की आवश्यकता ही शेष न रहेगी। यदि पहले ही से कारण को और परिणाम को मिथ्या कहने लग गये, तो फिर कारण तक पहुँचना किस प्रकार होगा। यह तो हम भी मानते हैं कि पूर्ण पुरुष या पूर्ण अस्तित्व का पूर्ण ज्ञान को मन वाणी से वर्णन नहीं किया जा सकता। वह कोई ऐसी वस्तु है जहाँ इनकी पहुँच कठिन है, लेकिन परिणामों को देखकर हम उसका अनुमान कर सकते हैं।

जगत का ज्ञान परिणामों के देखने से होता है और यह ज्ञान हमारे ही भीतर है। हम परिणाम को देखकर कारण का पता लगाने लगते हैं। यदि यह संसार न होता तो किसी प्रकार इस संसार के कारण का पता न लगता। सारा ज्ञान नष्ट प्रायः रहता। चूँकि यह दुनिया है और हममें

उसके जानने की शक्ति है, इस कारण से हम उसे समझते हैं। जिनमें जानने की शक्ति नहीं है, वह उसे जानते तक नहीं।

हम इस संसार के व्यौहार में सतपना, चितपना और आनन्दपना देखते हैं परन्तु ये विभिन्न वस्तुओं में विभिन्न श्रेणी के दिखाई देते हैं। इन सब पर दृष्टि डालकर हम अपने विचारों की जड़ स्थापित करते हैं और हमने कुछ ऊपर स्थानों के बारे में कहा है, उसका मूल इन्हीं अनुभवों पर है। हमने पिंड में षट चक्रों को देखा। उन पर विचार किया। यह स्थूल हैं। इनको देखकर उनके सूक्ष्म रूप का ध्यान आया। अपने भीतर खोज की गई। मस्तिष्क की ओर चढ़ाई की। उन पर जीत मिली। जब सूक्ष्म रूप समझ में आ गया और हमारी बुद्धि भी सूक्ष्म रूप के संयोग से सूक्ष्म हो गई, तब इस पर भी हमें जीत प्राप्त हुई। अब उसके कारण का विचार आया और इसी अभ्यास से कारण का भी पता लगा। स्थूल तो सूक्ष्म की छाया है और सूक्ष्म कारण की छाया है अर्थात् कारण ही सत् है और सूक्ष्म और स्थूल इसके छाया होने के कारण से मिथ्या हैं। लेकिन वर्तमान व्यौहार में उनको न मानना और उनको मिथ्या मिथ्या कहते रहना यदि भूल और न समझी नहीं है तो फिर क्या है?

परिणामों को देखकर कारण तक पहुँचना साधारण सी बात है। और जिस पर यह कारण और परिणाम निर्भर हैं वह पूर्ण पुरुष या स्वस्वरूप है जो न सगुण है निर्गुण है। न साकार है, न निराकार है। वह क्या है? कुछ कहा नहीं जाता। यहाँ आकर यह जुबान गूँगी हो जाती है। वह जो है वह है। इसके अधिक कहने का साहस नहीं है।

वचन 143
अभ्यास से लाभ

सुरत शब्द योग के अभ्यास का असली प्रयोजन तो निज स्वरूप या सत् तक पहुँचना है और वह निज स्वरूप न हमसे पृथक है और न भिन्न है। भ्रम के पर्दे बुद्धि पर पड़े हुये हैं जिससे उसका अनुभव नहीं होता। अभ्यास से यह पर्दे फट जाते हैं। तब आप ही आप अनुभव हो जाता है और यही निर्वाण, मुक्ति और धुर पद है।

लेकिन इन पर्दों के हटते समय अभ्यासियों को जो लाभ अनुभव होते हैं, वह अनगिनत प्रकार के हैं। पहला लाभ तो यह है कि शरीर, मन और आत्मा में समता हो जाती है। शारीरिक, मानसिक और आत्मिक स्वास्थ्य प्राप्त होता है। इन्हीं सब बातों का एक नाम सत है। सत अस्तित्व, जीवन और प्राकट्य को कहते हैं। दूसरा लाभ यह है कि जब जब मन जिस स्थान पर ठहरता है, उस समय उसे सुख और लीनता प्राप्त होती है और लगातार अभ्यास करते रहने से इनका प्रभाव इतना गहरा और स्थायी होता है कि अभ्यास के बाद भी यह बराबर या अधिक देर तक स्थिर रहता है और जीवन प्रसन्नता और आराम से गुरजता है। इसका नाम आनन्द है। तीसरा लाभ यह है कि अभ्यास से पर्दों के फट जाने के कारण ज्ञान और अनुभव में वृद्धि होती है और वह बराबर बढ़ता ही जाता है। उसमें कमी नहीं आती। इसका नाम चित

शक्ति है। तात्पर्य यह कि मनुष्य को सत, चित, आनन्द अर्थात् सच्चिदानन्द की अवस्था का अनुभव दृढ़ हो जाता है और वह संसार के झगड़े बखेड़ों में रहता हुआ उन पर अपने-आपको विजयी पाता है। जैसे कमल का पेड़ पानी के अन्दर रहकर न पानी से तर होता है और न नीचे की ओर आकर्षित होता है किन्तु जल के बढ़ने से बराबर बढ़ता चला जाता है। उसी तरह यदि एक सच्चा अभ्यासी संसार के हजार झमेलों में पड़ जाये मगर यह उनके ऊपर ही रहेगा ये झमेले उस पर विजय प्राप्त न कर सकेंगे। क्या यह लाभ कम है?

शारीरिक आकृति और रूप में परिवर्तन, संकल्प शक्ति में दृढ़ता, वाणी का सुरीला होना, जीवन का तेजस्वी होना, परमार्थ के साथ स्वार्थ में सफलता, संसार की प्रीति के साथ त्याग आदि अनेक प्रकार की अवस्थायें प्राप्त होती हैं जिनका कोई वर्णन नहीं कर सकता।

जिस आदमी को शरीर या हृदय का रोगी देखो तो यह समझ लो कि उस अभ्यासी ने अभी तक समता के नियम का रहस्य नहीं पाया। जिसका हृदय शुद्ध पवित्र होता है, उसका शरीर भी वैसा ही हुआ करता है। शरीर मानसिक धार का जमा हुआ और स्थूल रूप है। विशाल हृदय वालों का रोगी होना आश्चर्य है और जहाँ कहीं रोगी दिखाई दे तो समझ लेना चाहिये कि अभ्यासी न तो विधि पूर्वक अभ्यास करता है और न उसके मन में शुद्धता आई है।

इनके अतिरिक्त दुनिया जिन्हें सिद्धि शक्ति या महात्माओं की करामात समझती है, वह मन की एकाग्रता के परिणाम हैं, किन्तु राधास्वामी मत के सत्संग में अभ्यासियों को पहिले ही से बता दिया

जाता है कि अभ्यास का यह प्रयोजन नहीं हैं। इनसे दूर ही रहने में भलाई है, वरना जो कोई इन में फँसता है वह मारा जाता है और माया का जँजाल उसे फँसा लेता है। योगी हमेशा उसके शिकार हुये हैं। यह सिद्धि शक्ति माया ही का रूप है और यह केवल चित्त की वृत्ति के एकाग्र होने और उस वृत्ति का किसी भौतिक या मानसिक वासनाओं का संयम करने पर स्वयं आ जाती है। उद्देश्य तो निज स्वरूप या संत का साक्षात्कार करना है।

वचन 144
सुख कैसे मिलता है

चित्त की वृति का किसी वस्तु में आरूढ़ हो कर उसके साथ संयम कर लेने से प्राणी को सुख प्राप्त होता है। संयम करना वृति का टिकाना कहलाता है और जमी हुई वृति का टिकाव, जमाव या संयम के स्थान से हटाये जाने पर दुख होता है। राधास्वामी मत में सुख और दुख की परिभाषा और व्याख्या केवल इतनी है। इससे अधिक कहना विषय को बढ़ाना है। स्त्री में, खेलकूद में, सैर व तमाशे में, गाने बजाने में, साधन व अभ्यास में, परमार्थ और स्वार्थ में, जहाँ-जहाँ और जब जब वृति ठहरेगी, वहाँ-वहाँ उस उस समय सुख होगा और स्त्री, खेलकूद, सैर व तमाशे, गाने व बजाने, साधन अभ्यास, परमार्थ, और स्वार्थ से जहाँ-जहाँ और जब-जब वृति का हटाव होगा, वहाँ-वहाँ उस उस समय दुख होगा। इस वृति में हमारे अंदर की छाया रहती है जो धार के रूप में हमारे शरीर के रग-रग और रेशा-रेशा में चालू रहती है। उसी से शारीरिक व्यवस्था चलती रहती है और दूर और

निकट और बाहर और भीतर उसी की धार किसी न किसी केन्द्र पर ठहर जाती है और उस ठहराव में सुख होता है। जहाँ उस केन्द्र से वृति अथवा सुरत की धार हटी, उसी समय दुख होने लगता है।

आदमी बाग का तमाशा देख रहा है और खिले हुये फूलों से उसे आनन्द मिल रहा है, क्योंकि उसकी सुरत की धार अथवा वृति वहाँ ठहरी हुई है। उस आनन्द की अवस्था में किसी ने आकर किसी प्यारे की मृत्यु की सूचना दी अथवा दूसरी कोई अप्रिय घटना प्रकट हुई, उसी समय सुरत की धार बाग के केन्द्र से हट गई और वही आग काटने को दौड़ा और दुख का स्वरूप बन गया।

किसी आदमी ने अपनी सुरत लड़के पर लगा रखी है। लड़के के देखने से उसे आनन्द मिलता है। अब वह लड़का मर गया अथवा उसमें बीमारी आ गई या उसने दुर्व्यवहार किया तो सुरत ही धार उससे हटी और दुख प्रतीत होने लगा।

कोई आदमी शतरंज खेल रहा है। उसकी वृति मुहरों की चाल में अटकी हुई है और वह खुश है। जब तक उसमें वृति जोर के साथ जमी रहेगी वह खुश रहेगा। वृति को हटा दो और फिर दुख होगा।

इस तरह हर वस्तु के सुख को चाहे वह कोई ही क्यों न हो, वृति ही के ठहरने का परिणाम समझना चाहिये और उसी से हटाये जाने ही को दुख कहना चाहिये।

हमारे शरीर के स्वास्थ्य में, खाने पीने में और जागने में यही नियम दृष्टि में रहता है। जब तक वृति रग-रग और रेशों-रेशों के द्वारा शरीर के केन्द्र पर जमती रहेगी, तब तक सुख होगा और जब किसी घाव, चिरने या फोड़े-फुँसी के कारण वह हटाई जायेगी तब-तब दुख

होगा। शरीर के कारण धार उस जगह आकर जल्द-जल्द जोर से हटती रहती है। इससे कष्ट होता है। यदि किसी तरह बात चीत में लगाकर वृति का रुझान किसी अन्य वस्तु की ओर मोड़ दिया जाये तो फिर वह दुख प्रतीत न होगा अथवा दवा आदि लगाकर या खिलाकर उसे उस ओर से हटा दिया जाये तब भी वही दशा होगी।

दर्द से कराहता हुआ रोगी जो शोर मचाता है, केवल उस धार के बार-बार हटाये जाने के कारण है। बात चीत शुरू कर दो ताकि सुरत या वृत दूसरी ओर हो जाये या कोई ऐसा उपाय करो कि उसे नींद आ जाये या बेहोशी हो जाये तो उसका कराहना बंद हो जायेगा।

बच्चों की वृति शीघ्र हट जाती है और शीघ्र एकाग्र होकर लग जाती है। इस कारण इन्हें इतना दुख नहीं होता, लेकिन वयस्क मनुष्य की वृति में दृढ़ता होती है, वह ऐसी आसानी से नहीं हट सकती। इस कारण से उसे दुख अधिक होता है।

यह जगत मादा का बना हुआ है। मादा क्षण-क्षण में बदलता रहता है। इस कारण से मादा की दुनिया में माद्दी सामान से हमेशा ही वृति हटती रहती है और दुख का होना आवश्यक है। परिस्थितियों और प्रभावों में परिवर्तन होते हैं। स्वयं बुद्धि तत्व भी इससे रहित नहीं है। इसलिए यहाँ इस मंडल में सुख के साथ दुख का बराबर होते रहना आवश्यक है। यह हमारे अधिकार की बात नहीं है। हम जब उसमें वृति लगायेंगे और वह हटा दी जायेगी तो दुखी होना पड़ेगा।

यह जाग्रत की घटनायें हैं। अब यदि स्वप्न में वृति ठहराई जाये तो वहाँ भी वही दशा होगी, क्योंकि मन एक हालत में रहने वाला नहीं है। सुरत की धार को अगर मन अप्रिय परिस्थितियाँ, घटनायें और प्रभाव स्वप्न की दुनिया में भी होते रहते हैं। आदमी बुरे स्वप्न देखता

है। कभी हँसता है और कभी चीख मार कर चिल्ला उठता है। यह हर एक का निज अनुभव है। इसलिए यह हालत भी वाँछनीय नहीं है।

अगर कोई ऐसा यत्न हाथ लग जाये कि हम जब चाहें अपनी सुरत को अपने आप ऐसे केन्द्र पर ठहरा सकें जो अधिक परिवर्तनशील न हो और उसके ठहराने के अभ्यास में लग जायें तो फिर हमको इतना दुखी होने का डर न रहेगा।

यह युक्ति सुरत शब्द योग है।

हम थोड़ा सा जानते हैं कि दुख अधिकतर वहाँ ही है, जहाँ मन और माया का सम्बन्ध है। अगर हम इनको पार करके वहाँ पहुँच जायें जहाँ आनन्द ही आनन्द है और सुरत को वहाँ ठहरा दें तो फिर हमको दुख से छुटकारा हो जायेगा।

यहाँ आनन्द संतों की शिक्षा के अनुसार सत् पुरुष राधास्वामी के चरण हैं जो हमारे अपने अन्दर मौजूद हैं। वह आनन्द का भँडार हैं। सब की उत्पत्ति उनसे है। वह पूर्ण आनन्द है। उनके ध्यान ही से आनन्द प्राप्त होता है।

'हर प्राणी आनन्द ही से उत्पन्न हुआ है', उपनिषद् ऐसा कहते हैं। जिस प्रकार उस केन्द्र पर सुरत के ठहराने से आनन्द की प्राप्ति होती है, उसी तरह चित्त और सत का प्राप्त होना भी सम्भ्भव है, क्योंकि वही सत और चित्त का भी भँडार है और उसी नियम के अनुसार इनका भी ज्ञान होता है। सुरत ही की धार असल में जब हर तरफ से मुड़कर उस केन्द्र पर ठहर जाती है, तब ही हर प्रकार का ज्ञान मिलता है।

वचन 145
धुर पद

सुरत शब्द योग के साधन करने से जो अन्तिम सीढ़ी आती है, संतों ने उसका नाम धुर पद रखा है। वह सब की चोटी पर है। उसकी बावत वाणी आई है।

नहीं खालिक मखलूक न खलकत।
करता कारण काज न दिक्कत॥
दृष्टा दृष्टि नहिं कुछ दरसत।
वाच्य लक्ष नहीं पद न पदारथ॥

जात सफ़ात न अव्वल आख़िर।
गुप्त न परगट बातिन जाहिर॥
राम रहीम करीम न केशो।
नहिं कुछ नहिं कुछ नहिं कुछ था सो॥

स्मृति शास्त्र न गीता भागवत्।
कथा पुराण न वक्ता कीरत॥
सेवक सेव न दास न स्वामी।
नहिं सतनाम न नाम अनामी॥

कहाँ लग कहूँ नहिं था कोई।
चार लोक रचना नहिं होई॥

जो कुछ था सो अब कह भाखूं।
उनमुन, सुन विसमाधी राखूं॥

हैरत हैरत हैरत होई।
हैरत रूप धरा इक सोई॥
उनमन रूप सदा वह धरता।
उनमुन दशा सदावहि बरता॥

इसी धुर पद की प्राप्ति के लिये साधन की शिक्षा है। यह अंत है और सब बीच की श्रेणियाँ हैं।

वचन 146
शिक्षा का स्पष्टी करण

अभ्यास का प्रारम्भ स्थूल व सूक्ष्म मंडल के साथ होता है, जहाँ तीन गुण, पाँच तत्व, पच्चीस प्रकृति,चौरासी लक्ष आदि के कारोबार हैं। वह स्थूल मंडल ज्योति निरंजन (विराट) और ओंकार पुरुष (अवयाकृत्य) की रचना में है। एक स्थूल है दूसरा सूक्ष्म है। इसके परे द्वैत का मंडल है जो सूत्र स्थान (हिरणय गर्भ) से शुरू होकर भँवर गुफा तक समाप्त हो जाता है। यह पुरुष और प्रकृति के महा सूक्ष्म कारण का स्थान है। पुरुष स्त्री के लक्षण त्रिकुटी (ओ३म्) तक हैं। यहाँ पुरुष और प्रकृति का मिलाप अत्यन्त सूक्ष्म रूप में है जिसकी पहिचान कठिनता से होती है। स्थूल सूक्ष्म या अनेकता बहुवाद है, यह द्वैतवाद है। सुन्न और महासुन्न स्थान के पहुँचे हुये अभ्यासी द्वैतवाद को अपने अन्दर रखते हुये हंस गति को प्राप्त होते हैं और भँवर गुफा में आकर वह परम हँस होते हैं, जहाँ पुरुष स्त्री का कोई भेद नहीं रहता। भँवर गुफा तक काल और माया की सीमा है। इसके

परे संत पद में केवल सत्ता मात्र होती है। यहाँ से संत गति की प्राप्ति होने लगती है। वह स्थान शुद्ध अद्वैत काहै। जब तक यहाँ पहुँच नहीं हो लेती तब तक असली या क्रियात्मक अद्वैत वाद का अनुभव होना सुगम काम नहीं है। वाणी और बुद्धि से चाहे जितनी बातें बनाई जायें, लेकिन उस पद का साक्षात्कार नहीं होता। जब अनुभवी सुरत इस स्थान तक पहुँच लेती है, तब वह सच्ची अद्वैत कहलाती है और यह संतों का गुण है। इसके तय करने पर परमसंत गति होती अर्थात् उस समय सूक्ष्म अद्वैत वाद का प्रभाव मिट जाता है। जब यह अवस्था आ लेती है, तब वही धुर पद कहलाती है। जिसे संत राधास्वामी धाम कहते हैं।

सूफियों में सात स्थान और सात अवस्थाओं का नक्शा इस तरह दिखाया गया है। (1) शौक और तलब (2) इश्क (3) तौहीद (4) मारफत (5) इस्तगना (6) फना और (7) बका। इनका अभिप्राय वही है जो संतों के स्थानों के तै कराने से है। शब्दों में अटकने से शिक्षा का सार समझ में नहीं आता। तत्व बात दृष्टि रखने से असलियत का पता मिलता है। इन अवस्थाओं की प्राप्ति नासूत, मलकूत, जबरूत, लाहूत, हूत, हूवेत और हतुलहूत के स्थानों पर पहुँचने से सम्भव है, जो सब के सब मनुष्य के मस्तिष्क में हैं और सुरत शब्द योग का साधन उनकी प्राप्ति में सहायक होता है।

जिज्ञासु में पहले 'शौक' (रुचि) 'तलब' (इच्छा) के भाव होना आवश्यक है। यह अधिकार और संस्कार का लक्षण है। फिर इसी रुचि के बढ़ने का नाम इश्क (प्रेम) है। 'इश्क' (प्रेम) का प्रयोजन दर्शन और मिलन है और यह अद्वैत में आकर पूर्ण होता है जहाँ ध्यान के साधन से प्रेमी और प्रेमास्पद दोनों मिलकर एक होते हैं। इस मिलाप का परिणाम 'मारफत' (ज्ञान) है। जब तक वृति प्रेमास्पद से

मिलकर उसका रूप धारण नहीं कर लेती है, तब तक ज्ञान का होना सम्भव नहीं होता है। ज्ञान हो जाने पर फिर अभ्यासी में इस्तगना (बेपरवाही) आने लगती है, जिसे संस्कृत में उदासीनता कहते हैं और वह निस्स्वार्थता और निस्सम्बन्धता समाधि हो जाती है। यही असली जीवन कहलाता है, जो संतों का सत् पद है। यहाँ तक का पता सूफियों की वाणी से लगता है।

संतों ने इससे आगे के स्थानों का पता दिया है ताकि इस सत्ता के ज्ञान का भी प्रभाव न रहे और सूक्ष्म से सूक्ष्म अद्वैत तक का विचार न आने पावे। यह पूर्ण अवस्था है और यही इष्ट पद है। इस स्थूल शरीर के रहते हुये भी यह सम्भव है। इसे असली निर्वाण कहते हैं। संतों का निर्माण बुद्धों या जैनियों अथवा वेदान्तियों के निर्वाण से भिन्न है। बौद्ध तो बुद्धि तत्व में जाकर लय हो जाते हैं और बुद्धि ही को सब कुछ समझते हैं। जैनी भी इसी में रहते हैं और ईश्वर पद को प्राप्त करते हैं। वेदान्ती ब्रह्म अर्थात् ब्रह्माण्डों मन (ओ३म् या प्रणव) को सब कुछ मान कर उसी को अपना इष्ट नियत करते हैं। संतों का इष्ट इन सब से भिन्न है। वह साधन से इस प्रकार का निर्वाण प्राप्त करते हैं कि सब भाव चाहे वह देह के हों या मन के हों या बुद्धि के हों, पूर्णतया नाश हो जायें। बुद्धि तक का सम्बन्ध न रहे। निर्वाण का अर्थ संस्कृत में फूँककर हटा देना है। अन्तिम श्रेणी अर्थात् राधास्वामी धाम में पहुँचकर सब भाव जल जाते हैं और केवल वह अवस्था रह जाती है जिसे धुर पद के वचन (145) में वर्णन किया गया है। यह संतों का निर्वाण है।

वचन 147
कर्म

कर्म बुरा है और कर्म भला है। बुरा कर्म नरक को ले जाता है। भला कर्म स्वर्ग तक पहुँचाता है। नर्क और स्वर्ग की प्राप्ति केवल मन की कल्पना है जो चिदाकाश में प्राप्त होती है। मनुष्य जिस प्रकार के कर्म करता है, इसी प्रकार के संस्कार उसके चित्त में पैदा होते हैं और यह संस्कार इसके आन्तरिक भावों को प्रेरित करके एक विशेष अवस्था में स्थिर कर देते हैं। कर्म करने वाले में विशेष प्रकार की योग्यता आती है जो उसके भावी स्थान का अर्थात् रहने के स्थान का निर्णय कर देती है। जिस व्यक्ति में जैसी योग्यता होगी, वह उसी के अनुसार अवस्था, हैसियत और स्थान प्राप्त कर लेगा। यह प्रकृति का नियम है।

जिस तरह जाग्रत के कर्म स्वप्न अवस्था में फुरते हैं और सोने वाले को सुख-दुख देते हैं, वैसे ही जीवन के समाप्त हो जाने पर उसकी आत्मा (सुरत) चिदाकाश में पहुँचकर कर्मों के अनुसार बुरी या भली हालत में रहने के लिए विवश होगी। इन्हीं का नाम नर्क और स्वर्ग है। इसके सिवा वह और कुछ नहीं है। वह स्थान अवश्य हैं, क्योंकि जीव को सूक्ष्म से सूक्ष्म शरीर रखने पर किसी न किसी जगह रहना ही पड़ता है। जब तक भले और बुरे कर्म रहेंगे नर्क और स्वर्ग में

अवश्य ही जाकर दुख और सुख भोगना पड़ेगा। यह नियम है। कर्मों के दग्ध होने पर लामकानियत या देश के बन्धन छुटने का अधिकार प्राप्त होता है। अभ्यासी के कर्म कई तरह पर कटाये जाते हैं। कुछ तो वह शारीरिक रोग और मानसिक दु:खों के रूप में भोगकर समाप्त करता है और कुछ मन के मण्डल में अभ्यास के समय भोगे जाते हैं। कर्म का भोग अनिवार्य है। उपनिषद का कथन है कि जो भले या बुरे कर्म मनुष्य करता है वह भोगने पड़ते हैं।

हाँ, अभ्यासी में चूँकि वृति एकाग्र होती है, यह आसानी से भोगे जाते हैं। औरों को बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है। चित्त की एकाग्रता से चित्त में विशेष प्रकार की बिजली पैदा होती हैं जो कर्मों के संस्कारों को जलाती रहती है। इस तरह उसके कर्म भोगाये जाते हैं। यदि यह कर्म न कटेंगे तो वह किसी सूरत में आत्मिक स्थानों को पार करने के योग्य न होंगे।

जो व्यक्ति जिस प्रकार के कर्म करेगा, उनका प्रभाव उसके अन्तर सुरक्षित रहेगा और सहायता पाकर उभर आयेगा। बुरे या भले कर्मों को करने वाला स्वप्न में वैसे ही स्वप्न देखता है। बीमारी की बेहोशी में वैसी ही बातें करने लगता है। उसी तरह मरते समय यह कर्म उभर कर उसके दृश्य को उन्हीं की ओर आकर्षित कर लेते हैं और उसे विवश नर्क स्वर्ग में जाना पड़ता है। अभ्यास में इनकी सफाई होती है।

स्वास्थ्य के लिये आवश्यक है कि शरीर का दूषित मल बाहर कर दिया जाये। इसी तरह असली आत्मिक स्वास्थ्य के लिये दूषित कर्म और दूषित विचारों के मल को अभ्यास द्वारा नष्ट करना आवश्यक है अन्यथा मन के आकाश का दर्पण उसके कर्मों के संस्कारों को पेश

करता हुआ उनमें फँसा रखेगा और स्वभावत: वह मानसिक शक्ति के आधीन रहता हुआ उनको जगाता रहेगा।

राधास्वामी मत में शुभ कर्म वह कहा जाता है जो सत् पुरुष राधास्वामी के चरणों की निकटता प्राप्त करावे और अशुभ कर्म वह है जो उनसे दूरी करावे।

वचन 148

आवागवन

राधास्वामी मत में आवागवन का सिद्धान्त सही माना गया है। आवागवन आने जाने को कहते हैं। जीवन का कोई क्षण इससे खाली नहीं रहता। साँस आती है और जाती है। तुम नींद में जाते हो और नींद से वापिस आते हो। तुम काम को बन्द करते हो और जारी करते हो। यह सब आवागवन ही है। इस आवागवन की एक दो नहीं बल्कि कुदरत में हजारों ही सूरतें है और उनके सिलसिले में मनुष्य की उन्नति और अवनति होती रहती है। जिस प्रकार गाड़ी के पहिये आगे पीछे घूमते हुये आगे की तरफ या पीछे की तरफ बढ़ते रहते हैं, वैसे ही जीवन का भी हाल है। जिस समय मनुष्य बुरी कमाई करता है, उसके भाव उसे बुरी हालत में नई सूरत प्राप्त कराते हैं। यही हालत अच्छी कमाई की भी होती है। इनके प्रभाव में जब वह नई हैसियत में अपना प्राकट्य करता है, तब उसको कहा जाता है कि उसने नया जन्म धारण किया है। जब वह उस हैसियत के ऊपर आ जाता है अथवा उससे गिरकर शरीर को छोड़ देता है तब उसे उसका मरना मानते हैं। और यह सिलसिला उस समय तक जारी रहता है जब तक वह इष्ट पद तक नहीं पहुँचता।

इस स्थूल शरीर को तो वह उसी तरह बार बार छोड़ता और धारण करता है, जिस तरह आदमी पुराने वस्त्रों को उतार कर नये वस्त्र पहनता है, लेकिन उसका सूक्ष्म शरीर जिसे मानसिक शरीर कहते हैं और जो सूक्ष्म तत्वों का बना हुआ होता है हमेशा साथ रहता है। इसकी हालत दूसरी तरह बदलती है। यह शरीर की तरह पृथक नहीं होता किन्तु परिस्थितियों और प्रभावों के आधीन इसमें परिवर्तन होता रहता है। नींव तो बनी रहती है और उस पर मकान तैयार हुआ करता है। यह सूक्ष्म शरीर ही है जो कभी स्थूल रूप में प्रगट होता है और कभी कारण रूप में। मन जागता है, मन सोता है और मन ही सुषुप्ति में जाकर लय हो जाता है। जागना स्थूल व्यौहार करना है। सुषुप्ति में जाना कारण व्यौहार है और स्वप्न देखना और मानसिक सृष्टी करना इसका अपना स्वभाव है। मन में यह तीन हालतें हमेशा हुआ करती हैं। यही कारण है कि उसमें संकल्प विकल्प उठते रहते हैं। वह कभी नीचे जाता है, कभी ऊँचे चढ़ता है।

स्थूल शरीर उसका ऊपरी वस्त्र है। सुषुप्ति का बीज रूप अस्तित्व उसका कारण शरीर है और उसका मानसिक अस्तित्व उसका अपना सूक्ष्म शरीर है।

इनको भी आवागवन ही समझो। यह तीनों व्यौहार जगत के तमाम जीव जंतु करते रहते हैं और जब तक अभ्यास कर के यह सत पद के साक्षी नहीं होते तब तक ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती। बिना ज्ञान की प्राप्ति के मुक्ति का मिलना असंभव है।

मन जब शारीरिक कारोबार करता है, शरीर की शकल में रहता है। जब सुषुप्ति में जाता है, बीज रूप में सिमिटा सिमिटाया रहता है।

अब अपनी असली हालत अर्थात् मानसिक अवस्था में आता है, तब अपने रूप को धारण कर लेता है। यह उस का आवागवन है।

योग्यता, अधिकार और संस्कार यह सब मन ही के गुण हैं। यहाँ फँसता-फँसाता और स्वतंत्र होता है। जब तक यह ऊँची से ऊँची आत्मिक अवस्था में पहुँच कर उसका रूप स्वीकार न करेगा, उसका आवागमन जारी रहेगा। जब यह अभ्यास द्वारा उस सद्गति को पा लेता है, तब उसी रूप में निमग्न होकर जड़ और चेतन की ग्रंथि को दग्ध कर लेता है। उस समय केवल सुरत ही सुरत रह जाती है और आवागवन मिट जाता है।

वचन 149
चार युग

कल्प-कल्पांतर और मन्वान्तरों में चार युग का चक्र बराबर चलता रहता है। इसी का नाम काल चक्र है। इसमें चार हालतें होती हैं। उनका प्रतिबिम्बत नकशा हर जीवन में हर समय रहता है। जीवन के चार आश्रम ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वाणप्रस्थ और सन्यास में भी वही दशा रहती है और उसी के अनुसार चारों वर्णों का प्राकृतिक विभाग ऋषियों ने किया था ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र, यह जन्म से नहीं थे बल्कि अपने कर्मों के अनुसार थे। इसी तरह और और वस्तुओं का प्रबन्ध प्राचीन काल के लोगों ने किया था। वह सब इसी प्राकृतिक नियम के अनुसार था।

सतयुग में चूँकि रचना की धार नवीन रूप में आती है, उसमें आत्मिकता अधिक होती है और इसी कारण सतयुग के जीव ईश्वर कोटि होते थे। बाद को भौतिकता का चक्र आया और जीव उस

आत्मिक अवस्था को नष्ट करने लगे। सतयुग में केवल ध्यान शक्ति ही से उनकी इच्छा पूरी होती थी। ध्यान उस युग का धर्म था, जो अंतर्मुखी होना कहलाया जा सकता है। त्रेता में उस ध्यान शक्ति में कमी आ गई। तब उस कमी को पूरा करने के लिये यज्ञ की विधि निकाली गई और मन के यज्ञ कुण्ड में विचारों की आहुती देकर उसको सिद्ध कर लिया करते थे। द्वापर में आधी आत्मिकता और आधी भौतिकता में खेंचातानी होने लगी। यह बराबर की खेंचातानी का समय है। आदमी आधा बाहर मुखी हो गया। उस समय मानव रूप में अवतार पैदा होकर दोषों के दूर करने की हिदायत करने लगे। पहले भी यद्यपि अवतार होते रहे हैं मगर पूर्ण मनुष्य के स्वभाव, डील डौल और मानूषी गुण वाले नहीं थे, क्योंकि उनकी आवश्यकता नहीं थी। अब द्वापर में आकर उसकी आवश्यकता हो गई। इस कारण से वह प्रगट हुये और मनुष्य को मूर्ति पूजा के द्वारा उसी ध्यान शक्ति के पूर्ण करने की शिक्षा दी गई। अब कलियुग आ गया। आत्मिकता बहुत कम हो गई और भौतिकता बहुत बढ़ गई। मनुष्य बिल्कुल ही बाहर मुखी हो गया। विद्या और बुद्धि की उन्नति हुई। विचारों की मुठभेड़ हर चारों ओर से होने लगी। इस समय में मूर्ति पूजा भी नहीं हो सकती। तब संत प्रगट होकर केवल नाम[1] के द्वारा उद्धार का उपदेश करने आये ताकि किसी तरह वह इसका आसरा लेकर अन्तर

1. संत तुलसी दास का कथन इसका समर्थन करता है–
चौ० ध्यान प्रथम जुग मख जुग दूजे।
द्वापर परितोषत प्रभु पूजे॥
कलि केवल यक नाम अधारा।
श्रुति सृति संत मत सारा॥
अर्थात्– सतयुग में ध्यान, त्रेता में यज्ञ, द्वापर में पूजा और कलियुग में केवल नाम आधार है। यह सब का सार है।

मुखी बनें और ध्यान शक्ति को जो सतयुग का गुण है पूर्ण करके अपने आप को ईश्वर कोटि बनायें और मुक्ति पद के अधिकारी हों। यह नाम केवल शब्द है और शब्द का अंतरीय अभ्यास ही नाम का सच्चा साधन हो सकता है। शब्द या नाम की धार मस्तिष्क की ओर से सीधे इस शरीर में जारी है। उसको पकड़ कर उलटे चलना होता है और वह नाम उलटा कहलाता है। तुलसी दास की वाणी है–

उलटा नाम जतप जग जाना। वाल्मीकि भये ब्रह्म समाना॥

इस नाम की महिमा का वर्णन कोई नहीं कर सकता। इसकी बरकत असीमित है।

राम से अधिक नाम प्रभुताई। राम न सकहिं नाम गुन गाई॥

आदमी कलियुग में सतयुग को वापिस नहीं ला सकता। परन्तु इस सुरत शब्द योग अभ्यास की सहायता से अपने आप को सत्युग की अवस्था में लाकर उससे भी ऊँचा जा सकता है। पहिले उसे ईश्वर कोटि होना पड़ेगा। फिर ब्रह्म कोटि और फिर संत कोटि। इस तरह क्रमशः उसकी आत्मिक उन्नति होकर वह परमपद को पा सकता है।

बचपन में सतयुग, किशोर अवस्था में त्रेता, जवानी में द्वापर और बुढ़ापे में कलियुग के लक्षण हैं। दिन के चार पहर में भी वही हालतें बरतती हैं और प्राणियों के व्यौहार में भी उनका अक्स रहता है। मूर्ति पूजा जवानी या अधेड़पन का साधन है और कला कौशल उद्यम, लिखत पढ़त आदि यहाँ सब मूर्ति पूजा ही है। थोड़ा विचार करने से यह विषय समझ में आ जाता है।

वर्णाश्रभ के व्यवहार में चार युगों की चार हालतें रखी गई हैं जिनमें बच्चों की तरह सादगी, विचार की सूक्ष्मता और ध्यान की परपक्किता हो वह ब्राह्मण है। जो ध्यान के साथ हाथ से भी काम लेना जानता हो और परिश्रम की आहुति देना जानता हो वह बलवान कर्मयोगी क्षत्री है। जो धन दौलत की मूर्ति की पूजा करता हो और इकट्ठा करके काम लेता हो वह वैश्य है। जो केवल सेवा करता है और द्विजन्माओं के गुणों से वंचित है वह शूद्र है।

यह गुण जिन में दिखाई दें, चाहे वह किसी जाति या देश के आदमी हैं, वह ब्राह्मण, क्षत्री, वैश्य और शूद्र कहे जा सकते हैं। शिक्षा पाना द्विजन्मा पना है। शूद्रों को चूँकि शिक्षा का लाभ नहीं मिलता इसलिए वह द्विजन्मे नहीं हैं लेकिन अगर उन्हें भी शिक्षा मिल जाये तो वह भी द्विजन्मे हो सकते हैं। केवल किसी जाति में जन्म लेने ही के कारण कोई ब्राह्मण, क्षत्री नहीं हो सकता। हाँ, जातियता के बंधन में जकड़े रहने से चूँकि पीढ़ी दर पीढ़ी विशेष प्रकार के भाव पैदा होना संभव है, इसलिये उसको महत्व देना इतना बुरा भी नहीं है, लेकिन किसी को केवल जन्म ही से ब्राह्मण या शूद्र मान लेना बड़ी गलती और भूल ही है।[1] यही गलती हिन्दुओं की दुर्दशा का किसी हद तक कारण भी हो रही है। राधास्वामी मत इस सच्चाई को दिखाता हुआ

1. **नोट : जन्मना जायते शुद्रा, संस्काराद द्विज उच्यते।**
वेद पाठी भवेत् विप्रा, ब्रह्म जानाति ब्राह्मणः॥

अर्थ – जन्म से सब शूद्र हैं। गुण, कर्म और संस्कार से द्विज होते हैं। वेद पाठ से मनुष्य विप्र और ब्रह्म के जान लेने से ब्राह्मण कहलाता है।

दृष्टि को तो ऊँची करा देता है लेकिन वर्तमान सामाजिक दशा को न हानि पहुँचाना चाहता है और न उसके सुधार का ही समर्थक है। वह मत तो केवल आत्मिक साधन है। लोग अगर अभ्यास करने लगें, तो उनकी हालत में स्वयं अंतर आ जायेगा और फिर किसी समय आप ही जाति के लोग विशेष अवस्था में पहुँच जायेंगे जैसा कि कबीर साहब के एक शिष्य जंग ऋषि और दूसरे बीरभान नामी साधुओं ने शिक्षा का लाभ देकर बहुत सों को विशेष विशेष सम्प्रदाओं में स्थिति होने का अवसर दिया। पहिले महापुरुष ने विष्णवी और दूसरे ने साध सम्प्रदाय की नींव डाली आदि आदि।

राधास्वामी मत जातिय या सामाजिक सुधार को पत्ते-पत्ते में पानी देने का विषय मानता है। वह चाहे लाभदायक हो मगर असली लाभ उससे नहीं होता। राधास्वामी पंथ में जड़ में पानी देने का सिद्धान्त है। लोगों को अध्यात्मक प्रेमी बना दो और आप ही हर पहलू से उनका सुधार हो जायेगा। कबीर साहब की वाणी है-

सब आय उस एक में, डाल पात फल फूल।
अब कहो पीछे क्या रहा, गह पकड़ा जब मूल॥

एक नाम को जानकर, दूजा दिया बहाय।
जप तप तीरथ ब्रत नहीं, सत गुरु चरण समाय॥

पात पात को सींचते, श्रम अकारथ जाय।
माली सींचे मूल को, फूलै फलै अघाय॥

वचन 150

व्यक्तित्व का कायम रखना

अधिकतर लोगों का यह सवाल रहता है कि मुक्ति में निजी व्यक्तित्व रहता है या नहीं? इस सवाल का जवाब कई कारणों से स्पष्ट शब्दों में देना आवश्यक है ताकि जहाँ तक हो सके मन का भ्रम मिट जाये।

मुक्ति के सम्बन्ध में लोगों के विभिन्न विचार हैं। सालोक, सामीप्य, सारूप, सायुज्य की अवस्थाओं को हम प्रारम्भिक वचनों में वर्णन कर आये हैं, लेकिन सम्भव है कि वह पर्याप्त न हो। इसलिए फिर दूसरे ढंग से वर्णन किया जाता है। कुछ आदमी कहते हैं कि मुक्ति में मनुष्य पत्थर की तरह पड़ा रहता है और बेसुध और गति हीन हो जाता है। कुछ के ख्याल में मुक्ति समुद्र में पड़ी हुई बूंद की तरह है। किसी किसी का यह विचार है कि स्थूल शरीर नहीं रहता और कोई ऐसा भी कहता है कि व्यक्तित्व बिलकुल ही जाता रहता है और वह इस मुक्ति को अच्छा नहीं समझते।

इनमें से न सब के सब सही हैं और न सब के सब गलत हैं। दोनों ही ठीक और गलत हैं। पत्थर की तरह बेसुध हो जाना जड़ता का लक्षण है। मुक्ति में यह जड़ता नहीं होती किन्तु मुक्ति चेतनता की दशा है। यह अवश्य है कि इन्द्रियाँ द्वारा जो चेतना होती है वह जाती रहती

है। समुद्र में बूंद के मिलने से यह अभिप्राय तो नहीं है कि बूँद नष्ट हो गई। उसका अस्तित्व तो मौजूद है, चाहे वह दिखाई दे या न दे। बूँद समुद्र में मिलकर उससे एक हो रही। अब वह अपना अस्तित्व समुद्र से पृथक नहीं समझती और पृथकता और भिन्नता का ज्ञान जो अहंकार के कारण जीव में था जाता रहा। स्थूल शरीर तो वास्तव में नहीं रहता, लेकिन उसका यह अभिप्राय नहीं है कि अस्तित्व ही जाता रहा। माद्दा में तो अपना अस्तित्व नहीं है। उसका अस्तित्व किसी और ही शक्ति के आधीन है। जब यह दशा है तो उसके खेल के उतर जाने से किसी की हानि नहीं होती है। चौथा यह विचार भी कि व्यक्तित्व नहीं रहता, इसी तरह का है। मुक्ति वास्तव में केवल बन्धन की दशा के नाश होने का नाम है चाहे व्यक्तित्व रहे या न रहे। इसका भ्रम भी नहीं होता। संस्कृत का शब्द निर्वाण इस दशा को प्रगट करने के लिए पर्याप्त है। मुक्ति में केवल भौतिक पदार्थ और मानसिक भाव दग्ध हो जाते हैं। इनका रंग रूप और रेख नहीं होता। सुरत सूक्ष्म होकर केवल सत् के आनन्द में लय हो रहती है। चूँकि अहँकार बिल्कुल नहीं होता, इस कारण से शारीरिक दोष नष्ट हो जाते हैं। यह असली मुक्ति और निर्वाण है।

प्रत्येक वस्तु और प्रत्येक विचार के भिन्न भिन्न पहलू हुआ करते हैं। किसी एक ही पहलू को दृष्टिगत रखने से उसका ज्यों का त्यों समझ में आना कठिन होता है। दृष्टि को जब तक व्यापक न बना लिया जाये, वह अंशों में फँसी रहती है और भ्रम से छुटकारा नहीं मिलता। यह व्यापकता अनुभव से आती है और अनुभव शब्द योग के अभ्यास से बढ़ जाता है। मुक्ति मृत्यु नहीं है और न नाश होना है।

मुक्ति न बेसुधि है और न पत्थर जैसी आलस्य की जड़ता है। यह विचार बिल्कुल गलत है। जगत में सुख या आनन्द बहुत प्रकार के हैं। इन्द्रियों का सुख भी आनन्द है मगर यह सीमित और क्षणिक है। जो लोग पूर्णतया इन्द्रियों के दास बने रहते हैं, वह इन्द्रिय सुख के सिवा और किसी में सुख नहीं जानते। यदि वे विचार करें तो मन के आनन्द का उनको पता लग जाये, जो इन्द्रियों के सुख से बढ़कर है। और इसी तरह बुद्धि के भी आनन्द हैं, जो इस मन के आनन्द से बढ़कर हैं मगर यह भी क्षणिक और सीमित हैं।

आत्मा का आनन्द इन सबकी अपेक्षा देर तक रहने वाला है और स्वतंत्र है क्योंकि दूसरी किसी वस्तु के आधीन नहीं है जैसा कि सुषुप्ति और गहरी नींद में पता लगता है। वह आत्मा का आँशिक आनन्द है क्योंकि इसमें देह, मन और बुद्धि का सीमित प्रभाव रहता है परन्तु वह अधिक नहीं ठहरता। हाँ, सुषुप्ति अवस्था पर विचार करने से इतना समझ में आ सकता है कि हमको बिना दूसरी वस्तु के मिलाप के आनन्द मिल सकता है और यह आनन्द हमको केवल अपने निज स्वरूप में मिलता है। सुषुप्ति में कोई मर नहीं जाता और न नाश होता है। अस्तित्व तो सबका रहता है। इसी तरह मुक्ति में भी अस्तित्व रहता है। उसका नाश नहीं होता।

इन तीनों अवस्थाओं का ज्ञान तो सबको है मगर ज्ञान के यही तीन ही मंडल नहीं हैं। अभी और भी मंडल हैं जिनका पता केवल अभ्यास करने से होता है। जब तक मनुष्य स्वयं सब मंडलों पर विजय पाकर अनुभव को नहीं बढ़ा लेता, मुक्ति का रूप कठिनता से किसी की समझ में आता है। राधास्वामी मत में मुक्ति केवल निचले भावों के पर्दे

फट जाने को कहते हैं। अन्न मय, मना मय, प्राण मय, विज्ञान मय और आनन्द मय, यह पाँच सुरत के कोष हैं। जब यह एक-एक करके उतर जाते हैं या उतरते जाते हैं, तब मुक्ति के रहस्य का पता मिलता है। यह पर्दे केवल मनुष्य ही में नहीं हैं, ब्रह्माण्ड के धनी में भी हैं। उस समय आत्म अवस्था अपने तेज और सौन्दर्य में प्रकाशित होती है। तब उसकी समझ आती है।

अभ्यासी को आवश्यक है कि वह साधन और अभ्यास को कुछ दिनों जारी रखे। तब रहस्य आप ही आप अनुभव के बढ़ जाने से समझ में आ जायेगा और यदि वह बिना अनुभव के केवल शब्दों के गोरख धंधों में फँसा रहता है तो फिर उसको समझ नहीं आयेगी।

वचन 151

रचना का प्रयोजन

यह रचना बिना प्रयोजन के नहीं है मगर प्रयोजन के शब्द से यह न समझ लेना चाहिये कि इसमें किसी का निजी स्वार्थ है। यह स्वाभाविक और प्राकृतिक नियम पर इसका क्रम बराबर जारी रहता है।

यह बता दिया गया है कि रचना में दो मण्डल हैं। एक सिर के समतुल्य है और दूसरा पाँव के। पहिले मण्डल में आत्मीयता न्यून है। आत्मीयता से रहित वह भी नहीं है। हाँ, इसमें आत्मीयता की कमी अवश्य ही है जिसके कारण अज्ञानता का अन्धकार रहता है। इन दोनों के बीच एक तीसरा मण्डल और है जो उनके प्रभावों के मिलने से बन गया है जो भौतिक और आत्मिक दोनों की दशाओं को अपने अन्दर शामिल रखता है। उसके पार किये हुये बिना ऊपर के मंडल का ज्ञान नहीं होता।

एक दशल देश है जिसमें शुद्ध आत्मा (सुरत) का कारोबार है। दूसरा काल देश है जिसमें शुद्ध आत्मा और सूक्ष्म माया का कारोबार है। यह ब्रह्माण्ड है। तीसरा माया देश या पिंड देश है, जहाँ आत्मा तो शुद्ध ही है किन्तु स्थूल माया के अनगिनत पर्दे उस शुद्ध आत्मा पर पढ़े हुये हैं और वह उनसे दबी हुई दशा में है। आत्मिक मंडल की धार स्वाभाविक रूप से दयाल देश से आकर कालदेश से उतरती हुई उसे प्रकाशित करती रहती है ताकि माया देश के प्राणी आत्मिक बनकर दयाल देश में जायें और उसके सुख का अनुभव करते हुये मुक्ति पद प्राप्त करें।

यह बात हमारे सिर तथा पैर की दशा पर विचार करने पर समझ में आ सकती है, क्योंकि हमारे शरीर में ब्रह्माण्ड की सारी अक्सी सूरतें मौजूद हैं। आदमी कुछ न करे, वह केवल अपने शरीर की पुस्तक का ध्यानपूर्वक अध्ययन करे तो सुगमता से यह रहस्य समझ में आ जाये। हमारे शरीर में चारों के उतार में वही कारोबार रहता है जो दयाल देश की धार माया देश में आकर करती रहती है।

दयाल देश की जो शक्तिशाली धार नीचे के मंडल में आकर जीवों को चेत दान करती है उसका नाम संत है। इसी कारण से उसकी इतनी महिमा है। धार तो इस माया देश में काल देश या ब्रह्मा देश से भी आ जाती है और उसे ब्रह्म का अवतार कहते हैं जैसे राम, कृष्ण आदि लेकिन इनकी पूजा से मुक्ति का दर्जा नहीं मिलता, क्योंकि वह केवल जगत में धर्म की हानि और अधर्म की वृद्धि के समय आकर जगत की व्यवस्था की मशीन को ठीक करके चले जाते हैं। उनका काम केवल इतना है। इससे अधिक उनको गौरव देना अज्ञानता है। इन सब में

कृष्ण का अवतार ब्रह्म का पूर्ण अवतार कहलाता है, क्योंकि वह ब्रह्माण्ड के पूरे सोलह कलाओं का अवतार है। सोलह कलाओं में दस ज्ञान और कर्म इन्द्रियाँ, चार अंतःकरण (मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार) और दो प्रधान (प्रकृति और आत्मा) हैं। कृष्ण की यह बहुत बड़ी महिमा है कि इन सोलहों के अंग में वह पूर्ण थे। इनकी दृष्टि से उनमें किसी प्रकार की कमी नहीं थी और यही कारण है कि उन्होंने जगत की व्यवस्था के सुधार में असली योग्यता का खेल दिखाया और शिक्षा भी ऐसी दी जो हर दृष्टि से पूर्ण है जैसा कि भगवत्गीता के पढ़ने और विचार करने से समझ में आती है ।लेकिन संतों का दर्जा इनसे ऊँचा है, क्योंकि वह काल के अवतार थे और समय की आवश्यकता के अनुसार अपना काम कर गये। संत केवल निवृति मार्ग की शिक्षा देते हैं। प्रवृति मार्ग की ओर उनका ध्यान नहीं होता। यह संत के अवतार हैं।

प्रवृति मार्ग वह कहलाता है जिसमें दीन व दुनिया दोनों का ख्याल रखना पड़ता है और लोक के साथ कुछ कुछ परलोक का ध्यान भी रखना पड़ता है, लेकिन निवृती मार्ग में लोक के विचार को बिल्कुल ही छोड़ देना पड़ता है। प्रवृति मार्ग दुचिताई है, क्योंकि वह द्वन्द यानी दोपने की दशा को पूर्ण रूपेण नहीं छोड़ सकता। निवृती मार्ग दुचिताई का विरोधी है। इसका उद्देश्य केवल यह होता है कि चित को एकाग्र करके केवल आत्मिक उन्नति का विचार रखा जाये।

जिस तरह ब्रह्म के अवतारों में कोई बड़ा और कोई छोटा होता है जैसे कृष्ण, राम, परसराम, वामन आदि, उसी तरह दयाल देश के अवतारों में वही समानता होती है। बड़े संत अवतार तो इस तरह होते

हैं जैसे परम संत कबीर साहब और सत् पुरुष राधास्वामी साहिब और छोटे अवतार इस तरह के हुआ करते हैं जैसे पल्टू साहब, जग जीवन साहब आदि। जिस तरह ब्रह्म के तमाम अवतारों का सिद्धांत तो एक ही होता है, उसी तरह तमाम संतों का सिद्धान्त भी एक ही हुआ करता है। उनकी शिक्षा में नाम के लिए भी अंतर नहीं होता। अगर परिस्थितियों और प्रभावों के कारण कुछ विभिन्नतायें दिखाई दें तो उन पर दृष्टि नहीं डालनी चाहिये। अभिप्राय यह है कि यह धार इस प्रकार प्रगट होकर जगत का उद्धार किया करती है और यह इस रचना का प्रयोजन है।

कुछ सवाल करेंगे कि यह अवतार इसी भारत वर्ष में होते हैं या दुनिया के और किसी हिस्से में? इसका उत्तर यह है कि ब्रह्म के अवतार, बुद्धों के अवतार और संतों के अवतार आदि केवल भारतवर्ष ही में हुआ करते हैं और जगह नहीं होते। यह बात किसी पक्षपात या संकीर्णता की दृष्टि से नहीं कही जाती। हर वस्तु के प्राकट्य के लिये अनुकूल और योग्य स्थान की आवश्यकता रहती है। भारतवर्ष पृथ्वी का सार (मुख्य) स्थान है। यह पवित्र भूमि है। यह धर्म की जगह है। दूसरी जगहों में धर्म का वृक्ष इतनी अच्छी तरह से नहीं लग सकता। हाँ, और जगह में नवी, रसूल और फकीर दरवेश समय-समय प्रगट होकर वहाँ के निवासियों के अनुसार थोड़े रूप में आत्मिक शिक्षा का क्रम जारी कर जाते हैं। यहाँ ही संत और अवतारों का प्राकट्य हुआ करता है और भारतवर्ष के आदमी जिस तरह आत्म सम्बन्धी बातों को समझते हैं, दूसरों से उसका इस सीमा तक समझना

सम्भव नहीं है। कारण स्पष्ट है कि भारत आत्मिक साधना के पूरा करने के लिये सबसे उपयुक्त है। आत्मिक विचारों के समस्त पौधे जिस तरह यहाँ बढ़ते हैं और जगह नहीं। यह हर एक आदमी स्वयं जाँच करके पता लगा सकता है। दूसरे लोगों का आदर्श साँसारिक उन्नति है। निवासियों का आदर्श आत्मिक पूर्णता है।

धार तो शरीर में सिर की ओर से बराबर आती रहती है, लेकिन दृष्टि की धार केवल आँखों में, श्रवण की धार केवल कानों में और केवल जिभ्या में आती है। इसी तरह यह पृथ्वी भी एक प्रकार का शरीर (बसु) ही है। इससे आत्मा की धार जोर शोर के साथ आया करती हैं। इससे अधिक उपयुक्त और कोई जगह नहीं है। भारतवर्ष पृथ्वी का पवित्र स्थान है और इसके ऊपर के लोकों में भी जो स्थान आत्मिक प्राप्ति के लिए अनुकूल होंगे, वह भारतवर्ष ही के समान है। भारतवर्ष ही में आदि मनु यानी पहिला मनुष्य पैदा हुआ और यहाँ से उसकी संतति के लोग जा जा कर दूसरे देशों में बस गये। दूसरी भाषा में मनुष्य को नूह कहते हैं। यह ऐतिहासिक जाँच का विषय है जिसे इस योग की पुस्तक में पूरे तौर से वर्णन नहीं किया जा सकता। जिज्ञासू को अधिकार है कि वह सारी दुनिया की नई और पुरानी जातियों के वृतान्त, मत और संस्कृति का पता उनके ग्रन्थों से लगाये। विश्वास है कि यदि वह पक्षपात न करेंगे तो उनकी संतुष्टि हो जायेगी।

प्रवल आत्मिक धार इस तरह इस भारतवर्ष में प्रगट होकर जीवों के उद्धार का सामान पैदा करती हैं।

भारत की वर्तमान गिरी दशा पर कभी न जाओ। दुनिया की हालत बदलती रहती है। दिन के बाद रात आती है। इसी भारत से तमाम दुनिया को लाभ पहुँचता है। लाभ पाने वाले प्राय: दुखदाई होते हैं। इसको समझो। पूर्ण आत्मिक प्राप्ति में मन लगाओ और प्रकृति ने जो काम भारतवासियों के सुपुर्द किया है, वह जब तक पूरा न होगा, इनके जीवन में पूरे तौर पर कभी हानि न होगी।

वचन 152

रचना में विभिन्न रूप

रचना में विभिन्न हैं। विभिन्नता प्रकृति की विशेषता है। यह विशेषता इस प्राकृतिक मंडल में कोई उससे छीन नहीं सकता। जब तक संसार है, तब तक यह बनी रहेगी, क्योंकि समता केवल आत्मा में है। जहाँ मन और माया होंगे और जहाँ मन और माया का कारोबारी होगा, वहाँ से विभिन्न अवस्थायें, विभिन्नरूपता आदि दूर कैसे होगी। हाँ, यदि तुम अपने अन्तर इनके आन्तरिक अंगों को पार करके आत्मा के स्थान पर पहुँचो तो अवश्य आत्मा की समता का दृश्य देख सकोगे।

परन्तु प्रश्न यह है कि यह विभिन्न दशा क्यों है? उत्तर यह है कि विभिन्न दशा आत्मीयता की न्यूनता और अधिकता के कारण से है। इस कारण विभिन्न रूपों की सूरतों का होना आवश्यक है।

दयाल देश में आत्मीयता है। माया देश में उसकी न्यूनता। बीच में तो मंडल आये हैं, उनमें आत्मीयता का न्यून और अधिक होना आवश्यक है। इसमें आश्चर्य की कौन सी बात है।

जिनमें आत्मीयता है, उनमें सत् का गुण प्रधान रहता है। जिनमें आत्मीयता की कमी है, उनमें सतगुण प्रधान रहता है और जिनमें सत् और तम दोनों मिले होते हैं उनमें रजोगुण प्रधान रहता है। इन गुणों की कमीबेशी सृष्टि के जीवों के रूप, आकृति, हृदय और मस्तिष्क पर प्रभाव डालती रहती हैं। इसी कारण से सब जीवों के भिन्न स्वभाव, भिन्न-भिन्न विचार और भिन्न-भिन्न रूप होते हैं। यह नैसर्गिक बात है।

लेकिन अब भी क्यों के प्रश्न का अंत नहीं होता। इसकी बाबत सार बचन राधास्वामी छंद बंद में जो वाणी आती है, उसे यहाँ ज्यों का त्यों दिये देते हैं :

आप ही आप न दूसर कोई। उठी मौज परगट सत सोई॥
तीन देश मौज न रचे। अगम अलख सत नाम होय हँसे॥
धुन धधकार उठी इक भारी। सात सुरत रचना उन धारी॥
साँचा बन जामन पुनि दीन्हा। सुरत परस्पर रचना कीन्हा॥
सोहं सुरत आदि यों बोली। सोहं सोहं समपट खोली॥
सहज धीर जामन तहाँ दीन्हा। औं सोहं गर्भ धुन चीन्हा॥

....

पुरुष कला को दिया निकासी। निकस कला कीन्हा अति त्रासी॥
पुरुष दया कर जुगत बनाई। कला दूसरी और उपाई॥
पीत धरन बहुकला सिंगारी। दीन्ही आज्ञा पुरुष निहारी॥
एक काल कुछ अंस दयाली। दोनों मिल कीन्हा कुछ ख्याली॥

मूल सुरत जहां पर प्रगटाई। मूल द्वार पर बैठी आई॥
शांत सुरत जहां कीन विलासा। हंस रचे कर दीप निवासा॥
दीपन शोभा क्या कहूं भारी। हंस कुतुहल करें अपारी॥
पुरुष दरस और लीला न्यारी। देख देख अनुभव गति धारी॥
जुग केते और मुद्दत केती। गिनी न जावै उनकी गिनती॥
रचना सत्य सत्य वह देशा। नहिं व्यापे जहाँ काल कलेशा॥
हंस सभा समरथ तहां बैठे। लीला देखें रहें इकट्ठे॥
कँवल द्वार दल धारा निकसी। श्याम रूप अचरजहोय दरसी॥
पुरुष देख अचरज लौ लीना। सेत मांहि जस श्याम नगीना॥
आये मान सरोवर तीरा। अक्षर की देखी यहाँ लीला॥
लीला देख कला चित त्रासा। तब अक्षर ने दिया दिलासा॥

॥ दोहा॥

जोत निरंजन दोउ कला, मिलकर उत्पति कीन्ह।
पाँच तत्व और चार खान, रच लीन्हे गुण तीन॥
गुणतीनों मिल जगत का, बहुत किया विस्तार।
ऋषी मुनीश्वर देव अदेव, रच बाढ़ो अहंकार॥

विभिन्नता का असली कारण यह है जो ऊपर की वाणी में वर्णन किया गया है।

वचन 153
वाणी में स्थानों की व्याख्या

इस रचना में जो स्थान पैदा हुये उनका वर्णन सार वचन राधास्वामी छन्द बन्द में इस प्रकार आया है :-

प्रथमे कंवल गनेश विलासा। कँवल दूसरे ब्रह्मा बासा॥
कँवल तीसरे विष्णु प्रकाशा। चतुर्थ कँवल शिव शक्ति निवासा॥
आतम कँवल पाँचवाँ होई। छटा कँवल परमातम सोई॥
कँवल सातवें काल बसेरा। जोत निरंजन का वहाँ डेरा॥
कँवल आठवाँ त्रिकुटी माँही। सूरज ब्रह्म बसे तेहि ठाहीं॥
नवाँ कँवल है दस द्वारे। पारब्रह्म जहँ बसे निरारे॥
महा सुन्न में कँवल अचिन्ता। कँवल दसम का वहाँ बरतंता॥
कँवल इकादश भँवर गुफा पर। द्वादश कँवल सत्त पद अंतर॥
षट चक्कर यह पिंड संवारा। तीन चक्र ब्रह्माण्ड अधारा॥
तीन कँवल जो ऊपर रहे। संत बिना कोई बरन न कहे॥
षष्ट कँवल तक जोगी आसन। नवें कँवल जोगेश्वर बासन॥
पिंड ब्रह्माँड का इतना लेखा। योगी ज्ञानी यहाँ तक देखा॥
आगे का कोई भेद न जाने। तीन कँवल सो संत बखाने॥
कोई छः तक कोई नौ तक भाखे। सर्व मते इन भीतर था के॥
बड़ा संत मत सब से आगे। संत कृपा से कोई कोई जागे॥
जो पहुँचे द्वादश अस्थाना। सोई कहये संत सुजाना॥

ये सब स्थान विभिन्न सम्प्रदायों के प्रारम्भ का पता देते हैं। गणेश के उपासक का दर्जा गुदा चक्र है, जो पृथ्वी तत्व का स्थान और रचना की बुनियाद है। इस देवता के उपासक गणापतिस्य कहलाते हैं। ब्रह्मा के उपासक कर्म काँडी का दर्जा इन्द्री चक्र से है, जो जल तत्व की जगह और रचना की सृष्टी का स्थान है। विष्णु के उपासक का दर्जा नाभी चक्र है जो अग्नि तत्व का स्थान और जगत के पालन पोषण का सामान है। यह वैष्णव कहलाते हैं। शिव के उपासक का दर्जा हृदय चक्र है, जो वायु तत्व का स्थान और जगत के संहार का सामान है। यह शैव कहलाते हैं। देवी के उपासक का दर्जा आत्म चक्र या कंठचक्र है, जो आकाश तत्व की जगह है और स्थूल तत्वों के लय का स्थान है। यह शाक्तिक नाम पाते हैं। सूर्य देवता के उपासक का दर्जा तीसरा तिल है जो परमात्म ज्योति की जगह है। इसी से सब की उत्पत्ति है यह सौर्य कहलाते हैं। छः विभिन्न देवताओं के उपासकों के दर्जे यही हैं। जो जिसका इष्ट बाँधता है, शरीर के छोड़ने पर उसी के लोक में जाकर समा जाता है। इनमें से अब ब्रह्मा की पूजा नहीं होती। केवल पंचदेव की उपासना की जाती है।

योगी केवल सहस्रार तक यानी सहस दल कंवल का इष्ट बाँधकर उसमें लय हो रहते हैं। इनके आगे के स्थानों तक योगेश्वर ज्ञानी जाते हैं मगर वह भँवर गुफा के नीचे नीचे रह जाते हैं। आगे संतों के स्थान आते हैं जिनका हाल इनको मालूम तक नहीं है। इन स्थानों की व्याख्या पर विचार करने से दुनिया के विभिन्न सम्प्रदायों के आदर्श का पता चलता है और संत मत की महानता का विश्वास आता है।

वचन 154

समाधि

अभ्यास में जो लय अवस्था आती है उसे समाधि कहते हैं। समाधि या तो निर्विकल्प होती है या सविकल्प। निर्विकल्प वह है जो वासना रहित हो और मन के संकल्प विकल्प इस तरह शान्त कर दिये जायें कि केवल अभ्यास की अवस्था में वह वासना के संस्कारों से स्वतंत्र रहें बल्कि उत्थान पर यानी समाधि से उठते समय भी वह न पैदा हों। यह अवस्था अच्छी है। सविकल्प समाधि में संकल्प विकल्प की जड़ नहीं कटती। लय अवस्था में भी उनका संस्कार मौजूद रहता है और उत्थान पर भी रहता है और इससे उस आदर्श की पूर्ति नहीं होती जो संत मत का इष्ट पद है। प्रथम तो संकल्प-विकल्प उठाने वाले का चित ही समाहत (समाधि वाला) नहीं होता और अगर चित्त का आंशिक निरोध से समाधि की अवस्था भी कुछ प्राप्त हुई तब भी वह चाहे कितना ही परिश्रम क्यों न करे, ऊँचे स्थानों में बासा नहीं हो सकता। उसकी वासना अंतरीय शब्द के सुनते ही जाग उठेगी और वह नीचे की ओर गिरा दिया जायेगा। ऊँचे तो केवल वह सुरत चढ़ सकेगी जिसमें वासना नहीं है। केवल सूक्ष्म वस्तु को सूक्ष्म स्थान मिलता है। सूक्ष्म स्थान में स्थूल वस्तु का वास होना कठिन है।

कुछ लोगों का चित्त स्वाभाविक रूप से समाहत होता है। यह उनके पहिले जन्मों की कमाई का फल है। कुछ को कठिन परिश्रम

करने पर भी यह अवस्था प्राप्त नहीं होती लेकिन बराबर अभ्यास के जारी रखने से परिवर्तन आता जायेगा और परिश्रम व्यर्थ न जायेगा।

किसी की किसी स्थान पर समाधि लगती है और किसी की किसी स्थान पर। इसका अनुभव अभ्यासी को स्वयं होगा। नीचे के स्थानों में चूँकि धार का झुकाव बाहरमुखी और चंचल रहता है, वहाँ समाधि की इच्छा नहीं करनी चाहिये। इसी ख्याल से राधास्वामी मत में षटचक्र का साधन निषेध कर दिया गया है और केवल ब्रह्माण्ड की हद से ब्रह्माण्डी चक्रों पर समाधि लगाने का आदेश दिया गया है।

यहाँ भी एक प्रकार की सावधानी की आवश्यकता है और वह यह है कि अभ्यास करते समय वृति के रुख का अध्ययन करना चाहिये। साधन के प्रारम्भ के समय ही यदि उसका रुख ऊँचे की ओर है तो गुरू से पूछ करके उस स्थान के दृश्य और अनुभवों का हाल सुनकर उस से ऊँचे के स्थान के साधन में लगना चाहिये और जिस स्थान में चित्त अधिक ठहरे उसी के अभ्यास को जारी रखना चाहिये। फिर उसको भी छोड़कर ऊँचे केन्द्र पर सुरत जमाना चाहिये। ऐसा न हो कि सारी उम्र एक ही स्थान पर ठहरे रहे। इससे तो फिर घृणा हो जायेगी और आत्मिक उन्नति कठिन होगी। राधास्वामी मत उन्नति का मार्ग है। इसमें किसी स्थान पर ठहरने की और उम्र भर उसी में लगे रहने की आज्ञा नहीं है।

जिस समय किसी एक केन्द्र पर समाधि लगने लगे तो थोड़े महीनों के बाद ही उससे ऊँचे चढ़ने का यत्न करना चाहिये। साधारणतया सुन्न के स्थान में बहुत गहरी समाधि लग जाती है। इस स्थान की समाधि का साधन अधिक समय तक करने से और आगे चढ़ने की शक्ति आयेगी।

समाधि के पाँच स्थान मुख्य हैं और ये पाँच नाम के सुमिरन करने से आते हैं। एक-एक करके उनको प्राप्त करते हुये राधास्वामी धाम की उमंग को बढ़ाते चलना चाहिये। जब तक यह पद प्राप्त न हो जाये तब तक अभ्यास को जारी रखना चाहिये।

प्राय: अभ्यासी सत पद तक पहुँचकर फिर अभ्यास को छोड़ देते हैं। उससे कुछ हानि तो नहीं होती, क्योंकि यहाँ तक पहुँचने पर अपना निज रूप और जगत का माया रूप समझ में आ जाता है और ज्ञान हो जाने से बंधन का भय नहीं रहता। लेकिन जिसे सत्‌धाम या सत् पद कहा जाता है, वह दयाल देस का नाका है। अभी इसके आगे भी स्थान हैं और उनकी प्राप्ति एक रह पर आवश्यक है। अभ्यास करते करते यों ही अभ्यासी का हाल यह हो जाता है कि जहाँ-जहाँ उसका मन जाता है, वहाँ-वहाँ समाधि का आनन्द मिलता है। वह फिर छूट नहीं सकती। तो भी यह वाक्य आदेश रूप में चेता देने के लिए कहे जाते हैं कि राधास्वामी तक जीते जी रमाई कर लेनी चाहिये और फिर वापिस आकर अगर कोई व्यक्ति संसार का भी व्यौहार संसारियों की तरह करने लगे, तब भी उसे कोई हानि न पहुँचेगी। वह बंधन से सदैव निर्बन्ध रहेगा और शरीर छोड़ने पर परम धाम को सिधार जायेगा।

हर केन्द्र पर एक विशेष प्रकार के सुमिरन बताने का प्रयोजन यह है कि उत्थान के समय आदर्श या इष्ट का ध्यान मन से दूर न होने पाये और साधन अभ्यास से पूर्ण सफलता की उमंग बनी रहे।

॥ सम्पूर्ण राधास्वामी योग समाप्त॥

हजूर परम पुरुष आशीर्वाद दें कि जो व्यक्ति इस पूरी पुस्तक को प्रेम से पढ़ें, उसके मन में आत्मिक उन्नति का विचार पैदा हो और गुरू की शरण प्राप्त करके वह सुगमता से भव सागर को पार कर जाये।

राधास्वामी! राधास्वामी दयाल की दया!! राधास्वामी सहाय!!!

....

हुजूर परम पुरुष पूर्ण धनी के चरणों में प्रार्थना

दीन बंधु दयाल स्वामी, तुम दया के सिंध।
निज दया से बंध काटो, छुटै द्वन्द्व का बंध॥
काल कर्म का कड़ा बंधन, जीव रहे लिपटाय।
विधि न जानें छूटने की, उरझ उरझ फँसाय॥
दया कीजे भक्ति दीजै, तार लीजै आप।
पुण्य फल तुम्हारे चरण में, कटें जग के पाप॥
सुरत शब्द का योग निर्मल, सहज सुगम सुहेल।
जीव पावें परम पद को, चित चरण से मेल॥
राधास्वामी राधास्वामी, राधास्वामी नाम।
सब जपें हितचित से निशदिन, पावें अमृत धाम॥